ISSN 2229-6328

भाग - चतुस्त्रिंश, तृतीय-चतुर्थ खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका



कौषीतकि ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

ISSN2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प० पू० स्व० स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक-शोधपत्रिका

भागः चतुस्त्रिंश, तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड (वि० सं० २०७६)

कौषीतकि ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जुलाई २०१९–दिस. २०१९ | मूल्य २००.००

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्थाहेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व० माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ०प्र० ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामीसमर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ- २५०५०१ (उ०प्र०)

दूरभाष : ८००६७०२५५१
अणुवाक्:**pavamani86@gmail.com**
जालपत्र : **pavamani.in**

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: चतुस्त्रिंश, तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड
जुलाई २०१९- दिस. २०१९

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ०प्र०)

- प्रेरणास्रोत :

प०पू० स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो० सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ० वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते
- **युगाब्द** ५१२२
- **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

वेदभूमि-भारत का परम सौभाग्य है कि सर्वप्रथम यहीं वेदज्ञान का भास्कर भासित हुआ, जिसने समग्र विश्व को अपनी ज्ञानप्रभा से आलोकित किया। सर्वविध ज्ञानविज्ञान के प्रकाश को निर्बाधरूप से प्रकाशित करने के लिए आर्यावर्त्त के सहस्राधिक मनीषी अपने जीवन को ज्ञानयज्ञ में आहूत करते रहे। उन ऋषियों की त्याग एवं तपस्या के कारण आज हमें वेदामृत पान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। काल के प्रबल प्रवाह, आततायिओं के क्रूर आक्रमणों तथा हम लोगों के प्रमाद एवं कर्त्तव्यहीनता के कारण वेद के विपुल ज्ञानभण्डार से अत्यल्पज्ञान ही हम आज सुरक्षित रख पाए हैं। **स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान**, गुरुकुल प्रभात आश्रम, वैदिक ज्ञान विज्ञान को अक्षुण्ण रखने तथा इसे जन-जन तक पहुँचाने के लिये विगत पैंतीस वर्षों से शोधसंगोष्ठियों एवं पावमानी त्रैमासिक शोध पत्रिका के प्रकाशन के माध्यम से सतत कार्यरत है। इसी क्रम में विगत दिनों ऋग्वेद की शांखायन शाखा से सम्बद्ध शांखायन ब्राह्मण (कौषीतकि ब्राह्मण) पर शोध संगोष्ठी आयोजित की गई। वैज्ञानिक संसाधनों की सुविधा से सुसम्पन्न आज के इस युग में भी भारत में वेदाध्ययन तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों पर शोधसंगोष्ठी आयोजन करने की क्या स्थिति है? यह जानकर आप अत्यन्त दुःखित होंगे। गोष्ठी में भागग्रहण हेतु हमने भारत के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के विद्वानों को निमन्त्रण भेजा, अधिकांश विद्वानों से उत्तर मिला- विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में शांखायन ब्राह्मण ही उपलब्ध नहीं है, अतः हम लोग गोष्ठी में भागग्रहण में असमर्थ हैं।

शांखायन ब्राह्मण ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में प्रसिद्ध पाँच शाखाओं में से अन्यतम शांखायन शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण है, जैसा कि शांखायन शाखा के विषय में चरणव्यूह में लिखा है-

एतेषां शाखा: पञ्चविधा: भवन्ति।

आश्वलायनी, शाङ्खायनी, शाकला, वाष्कला, माण्डूकायनाश्चेति॥

कुछ वर्ष पहले इन इक्कीस शाखाओं में से केवल शाकल शाखा ही उपलब्ध है। सौभाग्य से डा० अमनधारी सिंह के सम्पादकत्व में राष्ट्रिय सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी से २०१२ में शांखायन शाखा प्रकाशित हुई। इसकी पाण्डुलिपि अलवर के महाराज के पाण्डुलिपिगृह से प्राप्त हुई थी। इस पर विद्वद्वरेण्य डा० फतेहसिंह जी ने कार्य प्रारम्भ किया था। शाङ्खायन शाखा को लोग विलुप्तकोटि में मानते थे। इसी प्रकार सम्मान्य प्रो० व्रजबिहारी चौबे जी द्वारा सम्पादित ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखा, इन्दिरा गान्धी कलाकेन्द्र, दिल्ली से २००९ में प्रकाशित हुई। शाङ्खायन ब्राह्मण की एक वैद्युत प्रति (साफ्ट कापी) अन्तर्जाल से प्राप्त कर डा० वेदव्रत द्वारा सभी विद्वानों को भेजी गई और इस प्रकार शाङ्खायन ब्राह्मण विषयक संगोष्ठी साकार हो पायी।

इस संगोष्ठी से प्रेरित होकर शाङ्खायन ब्राह्मण की इस दुर्लभता को दूर करने के लिए संस्कृत के समुपासक विद्वद्वरेण्य डा० राकेश शास्त्री, बाँसवाड़ा (राजस्थान) ने इसे सम्पादित कर हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा ओरियण्टलिया, दिल्ली से प्रकाशित करवाकर वेदोद्धार का महान् कार्य किया, इसे मैं गोष्ठी की महती उपलब्धि मानता हूँ। इस श्रेष्ठ कार्य के लिए सम्मान्य शास्त्री जी को शोध संस्थान की ओर से हार्दिक वर्धापन अर्पित करते हैं।

ग्यारह हस्तलेखों के पाठसंवादों पर आधृत लिण्डनर द्वारा सम्पादित शाङ्खायन ब्राह्मण का प्रथम संस्करण जर्मनी के येनानगर से १८८७ ई. में प्रकाशित हुआ। प्रथम भारतीय संस्करण आनन्द आश्रम पूना से १९११ में प्रकाशित हुआ था। इस अमूल्य धरोहर को संजोये रखकर, इनके रहस्यों का अन्वेषण करना हम सभी का परम कर्त्तव्य है।

शांखायन ब्राह्मण ऋग्वेदीय ज्ञानविज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित करने में परम सहायक है। शांखायन शाखा तथा ब्राह्मण का प्रचार-प्रसार का क्षेत्र उत्तर गुर्जर देश रहा है-

उत्तरे गुर्जरे देशे बह्वृचः परिकीर्तितः।
कौषीतकिब्राह्मणं च शाखा शाङ्खायनी स्थिता॥

(द्र. सेक्रेड बुक्स आफ द इस्ट, भाग २, पृ. ३१)

शतपथादि ब्राह्मणों के तुल्य ही मन्त्रों के रहस्यों तथा तत्सम्बद्ध कर्मकाण्ड को शाङ्खायन ब्राह्मण में विवृत किया गया है। शांखायन ब्राह्मण में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, स्विष्टकृतयाग, चातुर्मास्य स्वरूप, अभिजित् याग, विश्वजित् याग, सोमयाग, अग्निचयन आदि अनेक कर्मकाण्डीय रहस्य विवेचित हैं। एतदतिरिक्त इन यज्ञीय कर्मकाण्डों के साथ ब्रह्मसम्बन्धी विवेचन, ऋतु विज्ञान, आयुर्विज्ञान, प्राणविद्या, भूगोलविद्या, ऐतिहासिक तत्त्व, पशुपक्षी विद्या, भौतिक विज्ञान, चाक्षुषी विद्या आदि का वर्णन वहाँ उपलब्ध होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती को ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड परक आधियाज्ञिक अर्थ स्वीकार्य है, जैसा कि वे अपने यजुर्वेद भाष्य में अनेक मन्त्रों की व्याख्या में लिखते हैं- "**अयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे व्याख्यातः**"। एतदतिरिक्त वे आधिदैविक, आधिभौतिक, अधिप्रज, अधिराष्ट्र एवं आध्यात्मिक अर्थ भी स्वीकारते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेदार्थ प्रतिपादनशैली की सबसे बड़ी विशेषता है प्रतीकशैली। इसके द्वारा मन्त्रगत किसी भी दुरुह शब्द का विशदतया स्पष्टीकरण तथा प्रसंगानुरूप मन्त्रार्थों की अभिव्यक्ति रोचकतया तथा सहजतया हो जाती है। इस प्रतीकशैली के माध्यम से ही यज्ञादि कर्मकाण्डों के माध्यम से अनेक आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तथ्यों का अर्थ उद्घाटित कर दिया जाता है। इस तथ्य को समझने के लिए यज्ञों में जो आज अश्व आदि पशुओं को उपस्थापित किया जाता है, उस पर संक्षेपतः विचार करते हैं। इस अंक में पशु स्वरूप पर दो लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं; विस्तृत विवरण

वहाँ द्रष्टव्य है। महाभारत में ब्रह्म के दो रूप वर्णित हैं- **द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्।** माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में भी- **द्वे वै ब्रह्मणो रूपे मूर्त्ताञ्चामूर्त्तञ्च** कहकर ब्रह्म के मूर्त्त एवं अमूर्त्त दो रूप स्वीकार किये गये हैं। ब्रह्म के अमूर्त्तस्वरूप को मूर्त्तरूपधारी मानव को समझाने के लिए प्रकृति में जो विविध मूर्त्त पदार्थ हैं, उनसे समझना, इंगित करना ही ब्राह्मण ग्रन्थों का लक्ष्य है। यथा अग्निरूप प्रजापति एकपाद है। शतपथ ब्राह्मण में 'अज'या 'अजा'को प्रजापति कहा गया है- **प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजा.....** (५.२.१.२४)। मनुष्य के सर्वाधिक निकट गौ, अज, अश्व आदि पशु हैं। अज को प्रजापति के निदर्शन रूप में उपस्थापित कर अनेक गूढ़ रहस्य विवृत किये गये हैं। 'अज' या 'अजा' शब्द जहाँ (बकरी) पशुविशेष का वाचक है, वहीं ब्रह्म, प्रजापति, जीव, प्रकृति, सूर्य, ब्राह्मण आदि का भी वाचक है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्टतया प्रकृति को अजा कहा गया है-

अजा ह्येकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहत्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

अजा पशु चतुष्पाद होता है-। प्रकृति भी सत्त्व, रजस्, तमस् एवं साम्यावस्था रूपेण चतुष्पाद है। ब्रह्म प्रजापति भी सृष्टि, पालन, संहार एवं आनन्दरूपेण चतुष्पाद है। बकरी अवस्था विशेष में लक्ष्यप्राप्ति के लिए एकपदा होकर खड़ी हो जाती है। याज्ञवल्क्य लिखते हैं-

एकपदा ह भूत्वा अजा उच्चक्रमुः (मा०शत०ब्रा०, ८.२.४.१)

बकरी जब एक पैर पर खड़ी होती है तो उसके तीन चरण आकाश में ऊर्ध्व खड़े रहते हैं। ब्रह्म भी इस ब्रह्माण्ड में एक पद में स्थित है तथा शेष तीन चरण द्युलोक में स्थित हैं। इस विषय में यजुर्वेद का स्पष्ट प्रमाण है-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (यजुर्वेद ३१.३)

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। (यजुर्वेद ३१.४)

एक पैर पर खड़े ब्रह्म को तो हम देख नहीं सकते परन्तु एक पैर पर खड़े बकरे को हम देख सकते हैं। इस प्रकार अज अश्वादि पशुओं से प्रजापति,

क्षात्रधर्म आदि के मर्म का प्रकटीकरण ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है। वेदादिग्रन्थों की अध्ययन परम्परा के लोप होने से लोग इतने पण्डित हो गए कि इन पशुओं के विशिष्ट गुणों को ग्रहण करने के स्थान पर उनको काट-काट कर यज्ञाग्नि में आहुति देकर कृतकृत्य हो गये। हमें पुन: ब्राह्मण-ग्रन्थों के मर्मों को समझकर इनके त्रिविधज्ञान से संसार को त्रितापमुक्त कर सकें, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान का यही लक्ष्य है। शाङ्खायन ब्राह्मण विषयक पावमानी के प्रस्तुत अंक में शांखायनब्राह्मण प्रतिपादित विषयों का स्पर्शमात्र ही हो पाया है, यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, सृष्टिविज्ञान, पशुस्वरूप, ब्रह्म, शिव, यूप, ऋतुविज्ञान, वाङ्मयस्वरूप आदि के विषयों में विद्वानों के लेख सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हैं। विद्वानों के लेख उनके स्वतन्त्र विचार प्रसूत हैं, विद्वज्जनों की आलोचना प्रत्यालोचना आमन्त्रित है। मान्य प्रो० भगवत्शरण शुक्ल जी का अग्निहोत्र के विषय में एक विस्तृत महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हो रहा है, जो अग्निहोत्र के विविध विधि विधान के स्वरूप को स्पष्ट करता है। सम्मान्य शुक्ल जी का यत्न स्तुत्य है। विशिष्ट नक्षत्रों में मुहूर्त्त विशेष में अग्न्याधान करने के अनेक प्रमाण ब्राह्मण तथा सूत्र-ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। विशिष्ट कालों में यज्ञविधान जहाँ प्रकृति की अनुकूलता प्राप्ति में सहायक है, साथ ही इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड का यह वाक्य भी ध्यातव्य है- **नक्षत्रं निश्चिनुयात् आदित्यमेव नक्षत्रं मत्वा जुहुयात्।** सूर्य को ही नक्षत्र मानकर अग्निहोत्र करें। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रमश: वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् ऋतुओं में जो अग्न्याधान का विधान है, वह भी ब्राह्मणादि वर्णों के स्वरूप एवं धर्म को व्यक्त करने के लिए है। यही तथ्य दर्शपौर्णमास, पशुयाग आदि के सम्बन्ध में भी ध्यातव्य है। अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डों के माध्यम से सृष्टि के अनेक रहस्य वर्णित हैं, यह हमें स्मर्त्तव्य है। इस सम्बन्ध में विद्वद्वरेण्य पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी की "श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय" नामक पुस्तक अत्यन्त ज्ञानवर्धक है। विद्वज्जनों के अमूल्य सहयोग से शाङ्खायन ब्राह्मण जैसे

दुरुह ग्रन्थ पर परिचर्चा सम्भव हो सकी तथा उनके वैदुष्यपूर्ण लेख प्रकाशित हो रहे हैं, एतदर्थ सभी विद्वज्जन वन्दनीय हैं।

जिस ऋषि परम्परा के अथक परिश्रम, त्याग एवं तप के प्रभाव से वेदज्ञान निधि की धरोहर हमारे पास तक पहुँची है, उसे भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने का कर्त्तव्य हम सभी का है। आइये वेदाध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हम ऋषियों को अपनी कृतज्ञता भरी प्रणामाञ्जलि समर्पित करें-

इदं नम ऋषिभ्य पूर्वेभ्य पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

प्रो० सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

शांखायन ब्राह्मण में वर्णित ऋतुविज्ञान

डा० कन्हैयालाल पाराशर[१]

हमारे भारतवर्ष में वैदिक युग से ही ऋषि-मुनि ऋतु-विज्ञान के पारखी रहे हैं। ऋग्वेद संहिता में वर्ष के बारह मास एवं तीन सौ साठ दिनों का उल्लेख मिलता है।[२] तैत्तिरीय संहिता में मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इण, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य- इन बारह महीनों में तथा अधिमास और क्षयमासों में ऋतु-विज्ञान के नाना रहस्यों का वर्णन हुआ है।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण में हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओं को एक ही मानकर वर्ष में पाँच ऋतुयें मानी गई हैं।[४] वेदोत्तर काल में भी भारतीय आचार्यों ने ऋतु-सम्बन्धी- वर्षा, वायु, मेघ और विद्युत् आदि के विषय में

---

[१] **पूर्वाचार्य, वि०वै०शोधसंस्थान, होशियारपुर**

[२] ऋग्वेद (१/१६४,११) द्वादशारं न हि तज्जराय ...... सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः तथा ऋ० (१/६४/१२) पञ्चपादं पितर द्वादशाकृति ..... षडर् आहरर्पितम्।

[३] षड् वा ऋतवः संवत्सरः। तैत्तिरीय संहिता ५,६,७

तथा तै.संहिता (४/४/११) में- मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू। नभश्च, नभस्यश्च वार्षिकावृतू। इषश्चोर्जश्च शारदावृतू। सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।

[४] द्वादश भाषा पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन। तै. ब्रा. १/१

तथा पञ्च वा ऋतवः संवत्सरः। तै.ब्रा. २/७/१०

अनुसन्धान करके अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया है, जो संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र बृहत्संहिता, मेघमाला और बृहद्दैवज्ञरञ्जन आदि में संग्रहरूप में भी समुपलब्ध है।

जहाँ तक शांखायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रसंग है, इसमें भी ऋतु विज्ञान के रहस्य का अति सरल वाक्यों में वर्णन हुआ है। इसके कुछ सूत्र निम्नलिखित रूप में मिलते हैं -

ऋतुर्ऋतुं नानुप्रपद्यते।[५]

इसका स्पष्टीकरण विनायक-भाष्य में इस प्रकार है कि उत्तर ऋतु पूर्व ऋतु के सदृश नहीं होती। एक अन्य ब्राह्मण-वाक्य इस प्रकार है- **तद् यद् द्वन्द्वं समस्ता ऋतवः आख्यायन्ते, ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति।**[६]

शांखायन के उक्त ब्राह्मण वाक्य में ग्रीष्म से अभिप्राय है- वसन्त और ग्रीष्म का द्वन्द्व अर्थात् जोडा, वर्षा से अभिप्राय है- वर्षा और शरद् इन दोनों ऋतुओं का युगल तथा हेमन्त से अभिप्राय है- हेमन्त तथा शिशिर इन दोनों ऋतुओं का युगल। वस्तुतः शांखायन ब्राह्मण में अपने ही पूर्व में कहे गये वाक्य का प्रबल समर्थन किया गया है। शांखायन का इससे पूर्व का वाक्य है- **तस्मात् द्वन्द्वं समस्ता ऋतव आख्यायन्ते- ग्रीष्मो, वर्षा, हेमन्त इति।**[७] अर्थात् सभी ऋतुएँ द्वन्द्व (जोडे) में हैं। इनके जोडे इस प्रकार हैं - ग्रीष्म अर्थात् वसन्त और ग्रीष्म, वर्षा अर्थात् वर्षा और शरद्, हेमन्त अर्थात् हेमन्त और शिशिर। प्रस्तुत ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्ष के दिनों की गणना करते हुये स्पष्ट कहा है कि- **विंशति शतं वा ऋतोरहानि।**[८]

---

[५] कौ० ब्रा० १३,९ तथा शां० ब्रा० १३,९

[६] शां ब्रा० २९,८ तथा कौ० ब्रा० २९,८

[७] शां ब्रा० १४,५ तथा कौ० ब्रा०१४,५

[८] कौ० ब्रा० ११,१७

विनायक भाष्य में इसका व्याख्यान करते हुये कहा हैं- "**विंशत्यधिकशतं विंशतिशतम्** (मध्यमपदलोपिसमासः)

इसका भावार्थ है कि (एक वर्ष में) एक सौ बीस दिनों की संख्या वाली प्रत्येक ऋतु होती है (इस प्रकार वर्षा, ग्रीष्म, हेमन्त ऋतुओं के तीनों जोडों में ३६० दिन होते हैं अर्थात् एक वर्ष के दिनों की कुल संख्या ३६० होती है। ऋतुओं की संख्या के विषय में इस ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है कि ऋतुएँ छः होती हैं[९] तथा हेमन्त और शिशिर को एक ऋतु मानकर इनकी संख्या पाँच भी निश्चित की गई है।[१०] सामान्यतः तो एक वर्ष में छः ऋतुओं का इस ब्राह्मण ग्रन्थ में विधान मिलता है।[११] ऋतुओं को देवताओं का अश्व कहा गया है। शांखायन का कथन है कि देवता अपने अश्वों से बड़ा प्रेम रखते हैं। **देवाश्वा वै वाजिनस्तानेव प्रीणात्यत्र देवाः साश्वाः प्रीता भवन्त्यथो ऋतवो वै वाजिनः।**[१२] ऋतुएँ देवताओं के वाजी (अश्व) हैं। ऋतुएँ देवताओं को प्रसन्न करती हैं। ऋतुरूपी अश्वों पर देवताओं की सवारी अहो! कितनी भव्य है यह कल्पना।

शांखायन (कौषीतकि) ब्राह्मण में प्रत्येक ऋतु के प्रभाव का भी वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। वसन्त ऋतु की विशिष्टता है कि इसके आगमन से जड-जङ्गम जगत् सम्पूर्ण रूप से दीप्त हो उठता है। कहा गया है - **वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यत**।[१३]

विनायक भाष्य में उक्त ब्राह्मण-वाक्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- **सर्वं समिध्यते दीप्यते पत्रपुष्पफलोद्गमादचेतनम्**। अर्थात्

---

[९] षड् वा ऋतवः। कौ० ब्रा० ५,७

[१०] ते (ऋतवः) पञ्च भवन्ति, हेमन्तशिशिरयोः समासेन।

[११] षड् वा ऋतव (कौ० ब्रा० १,४) तथा षड् वा ऋतव संवत्सरः (कौ० ब्रा० ३०,१०)

[१२] शांखायन ब्राह्मण ५,२

[१३] कौषीतकि वा शां० ब्रा० ३,४

वसन्त में जड-चेतन सबका रूप-स्वरूप दीप्त हो उठता है, सब में चमक आ जाती है। पत्रपुष्पफलोद्गम से अचेतन प्रायः तरु-लताओं में तथा शीत-आतप के अभाव से चेतन जगत् (मानव-पशु पक्षी आदि) में नया रूप संवर जाता है।

ग्रीष्म ऋतु की दाहकता का बड़ा सटीक वर्णन शांखायन (कौषीतकि) में मिलता है- **ग्रीष्मो हि तन्वं तपति**।[१४] इसका भावार्थ है कि ग्रीष्म शरीर (विशेषतः दुर्बल शरीर) को ताप-सन्ताप से कष्ट देती है। ग्रीष्म ऋतु के ताप के असह्य हो जाने पर सब परस्पर के वैरभाव को भी विस्मृत कर चुपचाप शान्त भाव से तपस्वि-से बन जाते हैं। इसी को हिन्दी के बिहारी कवि ने इस दोहे में इस प्रकार वर्णन किया है-

कहलाये एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ मिदाघ॥[१५]

वर्षा ऋतु के लिये कहा है कि यह पावन (वर्षा) ऋतु तो सब कामनाओं की पूर्ति कर देती है - **वर्षासु वै सर्वै कामाः।**[१६] इसी के व्याख्यान में विनायक भाष्य में कहा है कि- **सर्वे कामाः निहिता इति शेषः।** अर्थात् वर्षा में ही सबकी आस लगी रहती है। हम भारतीय तो कृषि प्रधान हैं। हम तो नदीमातृका और मेघमातृका हैं। नदियों और मेघों में जल तो विशेषकर वर्षा ऋतु में ही आता है। कृषकों को मेघों की बड़ी प्रतीक्षा होती है। सावन के आने की आस लगी रहती है। सावन के आने पर ग्रीष्म की तपन से छुटकारा मिल जाता है। पशुओं के लिये चरागाह हरे-भरे हो जाते हैं। मेघ-गर्जन सुनकर मयूर खुशी में नाचने लगते हैं। सभी पक्षी चहचहाने लगते हैं। कन्नोज (बुन्देल खण्ड) के इस लोकगीत में कामना की

---

[१४] वही

[१५] बिहारी सतसई

[१६] कौ० ब्रा० १,३

गई है कि-

कारी बदरिया बहिन हमारी, बदरा बीरन लगे हमार।
आज बरस जा मेरी कनवज में कन्ता एक रैन रह जाये॥

शरद् ऋतु की विशेषता इस ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार यह है कि - **शरदि हि बर्हिष्ठा ओषधयो भवन्ति।**[१७] भाव यह है कि शरद् ऋतु में ओषधियाँ - धान, जौ, गेहूँ, चना, मटर तथा शाक, सब्जियाँ बर्हिष्ठा (बृहत्तरा) अर्थात् विपुल मात्र में उत्पन्न होती हैं। समस्त चेतन जगत् के भरण-पोषण का दायित्व शरद् ऋतु के ही ऊपर रहता है।

हेमन्त ऋतु के लिये प्रस्तुत ब्राह्मण का वचन है - **हेमन्ते वा इदं सर्वं स्वाहा कृतम्।**[१८] विनायक के भाष्य में इसका स्पष्टीकरण करते हुये कहा गया है - **(हेमन्ते) स्वाहाकृतं हुतं सम्यक् सिद्धं होमयोग्यं भवति।** भाव यह है कि हेमन्त में फसल पक कर देवताओं के लिये होम योग्य तथा मानवों के लिये भोगयोग्य हो जाती है। नवान्न का आगमन इसी हेमन्त का उपहार होता है।

वस्तुतः ऋतुएँ तो समस्त प्राणिजगत् के लिये परमात्मा का दिया हुआ बहुमूल्य उपहार हैं। छः ऋतुओं का मनभावना, लुभावना रूप तो हमारे भारत को ही मिला है। कविवर अभिराज राजेन्द्र मिश्र के शब्दों में-

क्वापि दृश्यते सुखं न सखे, भारतं विना।
क्वापि षड्ऋतूद्गतं न सखे, भारतं विना॥[१९]

---

[१७] कौ० ब्रा० ३,४, शां ब्रा० ३,४

[१८] वही

[१९] विश्वसंस्कृतम् (त्रै.) होशिआरपुर, वर्ष ५४ खण्ड २-३ में प्रकाशित - अभिराज राजेन्द्र मिश्र की रचना।

अग्निहोत्रकर्म तद्विज्ञानञ्च

प्रो. भगवत्शरणशुक्लः[१]

"अग्निर्वै देवानामवरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तद्यश्चैव देवानामवरार्ध्यो यश्च परार्ध्यस्ताभ्यामेवैतत् सर्वा देवताः परिगृह्य सलोकतामाप्नोति"[२] **"अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः"**[३] **अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः"**[४] इत्यादि ब्राह्मणवचनैर्यज्ञे परमाराध्यत्वेन भगवान् विष्णुरेव अग्निरूपेण तिष्ठति। स एव च सर्वान् देवान् सर्वान् लोकान् च पुष्णाति। अत एव शतपथब्राह्मणेऽग्निः देवानामात्माऽपि कथितः "**अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा**"[५] "**सर्वेषामु हैव देवानामात्मा यदग्निः इत्यादि**"[६] मन्त्रैः। अयमग्निर्देवानां मुखमपि वर्तते। यत्र कृतमाहुतिं ते गृह्णन्ति इति

---

[१] **आचार्यो व्याकरणविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयो वाराणसी**

[२] कौषितकि ब्राह्मण७/१

[३] शतपथ ब्राह्मण ३/१/३/११

[४] ऐतरेय ब्राह्मण १/११

[५] शतपथ ब्राह्मण१४/३/२/५

[६] शतपथ ब्राह्मण ७/४/१/२५

शतपथब्राह्मणवचनाज्ज्ञायते "**अग्नि वैं देवातानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः**"[७] "**अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति**"[८] **अतः देवानां तुष्ट्यै यज्ञा आयोज्यन्ते ऋषिभिरिति "ऋत्विजो हैव देवयजनम्**"[९] इति वचनेन ज्ञायते।

सर्वयज्ञानां प्रधानभूतोऽयमग्निर्देवैः समस्तलोककल्याणकामनया निःसारितसकलदोषो विहितकल्याणशिवतमरूपो लोकेभ्यो मनुभ्यो दत्त इति कौषितकि (शांखायन) ब्राह्मणग्रन्थः प्रतिपादयति" **अस्मिन् वै लोके उभये देवमनुष्या आसुस्ते देवाः स्वर्गं लोकं यन्तोऽग्निमूचुस्त्वं नो अस्य लोकाध्यक्षः एधीति तानग्निरुवाचाथ यद्वोऽहं घोरसंस्पर्शतमोऽस्म्यपचपितरो मनुष्या कथं वस्तद् भविष्यति यन्मनुष्येष्विति ते देवा उचुस्तस्य वै ते वयं घोरास्तनूर्विनिधास्यामोऽथ यैव ते शिवा शम्या यज्ञिया तनूस्तयेह मनुष्येभ्यो भविष्यसीति तस्याप्सु पवमानामदधुर्वायौ पावकामादित्ये शुचिमथ यैवास्य शिवा शम्या यज्ञिया तनूरासीत् तयेह मनुष्येभ्योऽतपदेता वा अग्नेस्तन्वस्तद्यदेता देवता यजत्यत्राग्नि साङ्गः सतनूः प्रीतो भवति।"**[१०]

अखिलेष्वपि ब्रह्माण्डेषु सततं स्वभावतया प्रकृत्यैव यज्ञकर्म स्वत एव भवन्नास्ति। अग्नीषोमात्मकस्यास्य ब्रह्माण्डस्य किं वा सर्वेषामपि ब्रह्माण्डानां तथा सत्वात्। सर्वदैवाग्नौ सोमस्याहुतिर्भवति। सर्वेष्वपि जीवेषु वै अन्नादोऽग्निर्वैश्वानरो भवति। यश्च सर्वान् जीवान् पुष्णाति। तच्चान्नं भवति सोमात्मकं यस्याहुतिर्जीवशरीरस्याग्नौ भवति। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु अन्नं

---

[७] शतपथ ब्राह्मण ३/९/१/६

[८] शतपथ ब्राह्मण १/६/२/८

[९] शतपथ ब्राह्मण ३/१/१/५

[१०] शाङ्खायन ब्रा. १/१/२

प्राणाः अपि उक्तमस्ति **"अन्नं वै प्राणाः"**[११] **"अन्नं हि प्राणाः"**[१२]। स च अग्निर्हि विष्णुरूप एवेति पूर्वमुक्तमतएव श्रीकृष्णेन गीतायामप्युक्तम्-

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तःपचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥"

तेषामेव समस्तलोकानां शिवस्य कामनया यज्ञरूपः प्रजापतिः श्रेष्ठतमकर्मरूपो यज्ञरूपेण तिष्ठति- **"यज्ञः प्रजापतिः**[१३] **प्रजापतिर्यज्ञः**[१४] **प्रदापतिर्वै यज्ञः** इत्यादिभिस्दब्राह्मणवचनैर्ज्ञायते।

अतएव सर्वेषां यज्ञानां प्रधानभूतकर्म प्रथमं अग्न्याधानकर्म विधीयते।

वैदिकं कर्म द्विविधं स्मार्तं श्रौतं च। स्मार्तकर्मबोधनं भवति गृह्यसूत्रैः, श्रौतकर्मबोधनञ्च भवति श्रौतसूत्रैः। श्रौतकर्मणां सम्पादनाय तावत् चतुर्णामपि वेदानां तेषां वैदिकानां होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्मणां ऋत्विजाञ्च आवश्यकता भवति। वेदशाखानामनुसारेणैतेषां कश्चन क्रमो निर्धारितो वर्तते। यस्य च शुक्लयजुर्वेदसम्बन्धिनां क्रमस्य च विवरणमित्थमस्ति-

यजमानः	होता	अध्वर्युः	उद्गाता	ब्रह्मा
शाङ्खायन श्रौतसूत्रम्	शाङ्खायन श्रौतसूत्रम्	कात्यायन श्रौतसूत्रम्	कात्यायन श्रौतसूत्रम्	कात्यायन श्रौतसूत्रम्
कात्यायन श्रौतसूत्रम्	॥	॥	॥	॥
कात्यायन श्रौतसूत्रम्	॥	॥	॥	॥
कात्यायन श्रौतसूत्रम्	॥	॥	॥	॥

[११] तै. ब्रा. ३/२/१/४

[१२] शतपथ ब्राह्मण ३/८/४/८

[१३] शतपथ ब्राह्मण ११/६/३/८

[१४] गो. ब्रा.उ. २/१८

[15]ऋग्वेदिनः यजुर्वेदिनः सामवेदिनः अथर्ववेदिनश्च समेऽपि परम्परानुसारेण गृह्यसूत्रानुसारेण स्मार्तकर्माणि कुर्वन्ति। येषां च क्रमशःऋग्वेदिनां आश्वलायनगृह्यसूत्रं शाखायनगृह्यसूत्रं कृष्णयजुर्वेदिनां बौधायनगृह्यसूत्रं, आपस्तम्बगृह्यसूत्रं, शुक्लयजुर्वेदिनां पारस्करगृह्यसूत्रं बैजवापगृह्यसूत्रं, सामवेदिनां गोभिलगृह्यसूत्रं खादिरगृह्यसूत्रं जैमिनीयगृह्यसूत्रं अथ चाथर्ववेदिनां कौशिकगृह्यसूत्रम् इत्थमेतेषां वैदिकानां गृह्यसूत्राणां कश्चन परम्परया क्रमो वर्तते। यैश्चैते स्वकीयं स्मार्तं कर्म अनुतिष्ठन्ति।[16] एवमेव स्वस्वश्रौतसूत्रानुसारेण श्रौतं कर्माप्यनुतिष्ठन्ति। पूर्वं सरण्यां यजमानानुसारेण चतुर्णामपि वैदिकानां यः क्रमः सः शुक्लयजुर्वेदमधिकृत्य वर्तते। एवमेव श्रौतकर्मविषये तत्तद्वेदशाखा आश्रित्यान्येऽपि क्रमा भवन्ति श्रौतकर्मानुष्ठाय।

श्रौतकर्मानुष्ठानाय श्रौताग्निः स्मार्तकर्मानुष्ठानाय च स्मार्ताग्निः स्थाप्यते। यतो हि विवाहानन्तरं तत्रापि चतुर्थी कर्मानन्तरं त्रेताग्निपरिगृह्यसंस्कारो विधीयतेऽतस्तस्य[17] संस्कारस्य प्रयोजनमेव स्मार्ताग्नि स्थापनम्। अथ च यथासमयं गार्हपत्याहवनीयदक्षिणसभ्याग्निस्थापनञ्च यतो हि समस्तानि गृह्यसूत्रानुष्ठानानि स्मार्ताग्नावेवानुष्ठीयन्ते। अत एतस्य प्रथमं स्थापनम्। एतस्याग्नेर्नाम आवसथ्याग्निर्भवति। यत्र स्मार्तकर्मसु औपसनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणम्, अष्टकाश्राद्धं, मासिश्राद्धं, श्रवणाकर्म, शूल्वकर्म चेति सप्तपाकसंस्थाः क्रियन्ते। अत्रैव हुताहुतप्रहुतप्राशितकर्माण्यपि भवन्ति। एतानि पाकयज्ञत्वेन स्मर्यन्ते। पाकयज्ञस्यैव विषया एते षोडश संस्कारा

---

[15] कात्यायनयज्ञपद्धति विमर्श पृ. १२

[16] वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ.सं.३०६-३२८

[17] मुहूर्त चिन्तामणि ८/१,२

अपि भवन्ति।

श्रौतकर्मानुष्ठानाय गार्हपत्याग्निः आहवनीयाग्निः दक्षिणाग्निश्च स्थाप्यन्ते। अनन्तरञ्च सभ्याग्निः स्थाप्यते। एतेषां अग्निनां परिग्रहे मुहूर्त विचारो विद्यते। यस्य परिचयो मुहूर्तचिन्तामणिग्रन्थे प्राप्यते-

स्यादग्नि होत्रविधिरुत्तरगो दिनेशे मिश्रध्रुवान्त्यशशिशुक्रसिरेज्यधिष्ण्ये।
रिक्तासुनो शशिकुजेज्यभृगौ न नीचे नास्तङ्गते न विजिते न च शत्रुगेहे॥
नो कर्कनक्रझषकुंभनवांशलग्ने नोब्जे तनौ रविशशीज्यकुजे त्रिकोणे।
क्रेन्द्रर्क्षषट्त्रिभवगे च
परैस्त्रिलाभषट्खास्त्रिस्थितैनिधनशुद्धियुतेविलग्ने॥
चापे जीवे तनुस्थे वा मेषे भौमेऽम्बरे द्युने।
षट्त्र्यायेब्जे रवौ वा स्याज्जाताग्निर्यजति ध्रुवम्॥

अर्थात् श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानाय अग्निपरिग्रहणं कुर्यात्। तत्र प्रथमः क्रमः विवाहाङ्गभूतचतुर्थी कर्मानन्तरं, तत्र द्वितीयः क्रमः भ्रातृणां परस्परग्रहादिविभाजनान्तरम्। इतिपारस्करगृह्यसूत्रे आवसथ्याधानं दारकाले, दायाद्यकाल एकेषाम् "इत्येवं प्रतिपादितम्। तत्रोत्तरायणे विशाखा, कृतिका, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदं, रोहिणी रेवती, मृगशिरा, ज्येष्ठा, पुष्यः इति नक्षत्रेषु रिक्ताभिन्नतिथिषु चन्द्रभौमगुरुशुक्रग्रहेषु अनीचस्थेषु अनस्तङ्गेषु च ग्रहयुद्धेऽपराजितेषु स्वराशिषु मित्रराशिषु वा स्थितेषु नवांशे लग्ने च /कर्कमकरमीनकुम्भराशिषु सत्सु लग्ने चन्द्रे, सूर्यशशिगुरुषु केन्द्रत्रिकोणे उपचये (२/८/१२ इति भिन्न स्थानेषु) च सत्सु, पापग्रहेषु सुर्यशनिराहुकेतुषु ३, ६, १०, ११ स्थानेषु सत्सु अष्टमस्थानस्य च ग्रहविरहिते च सति, धनुराशौ गुरुर्लग्ने, मेषलग्ने भौमः, आधानलग्नस्य सप्तमे दशमे वा च भौमः लग्नात् तृतीये षष्ठे चैकादशस्थाने च चन्द्रो, लग्नात् तृतीयषष्ठैकादशस्थानेषु सूर्यो वा भवेत् तदा आवसथ्याग्नि

परिग्रहो निर्विघ्नः शुभदो भवति। आधानकर्ता च ज्योतिष्टोमादियागादिविधानसामर्थ्यं सौभाग्यञ्चाप्नोति।

कात्यायन्यादिश्रौतसूत्रेष्वपि अग्न्याधानमुहूर्तविचारो विद्यते-

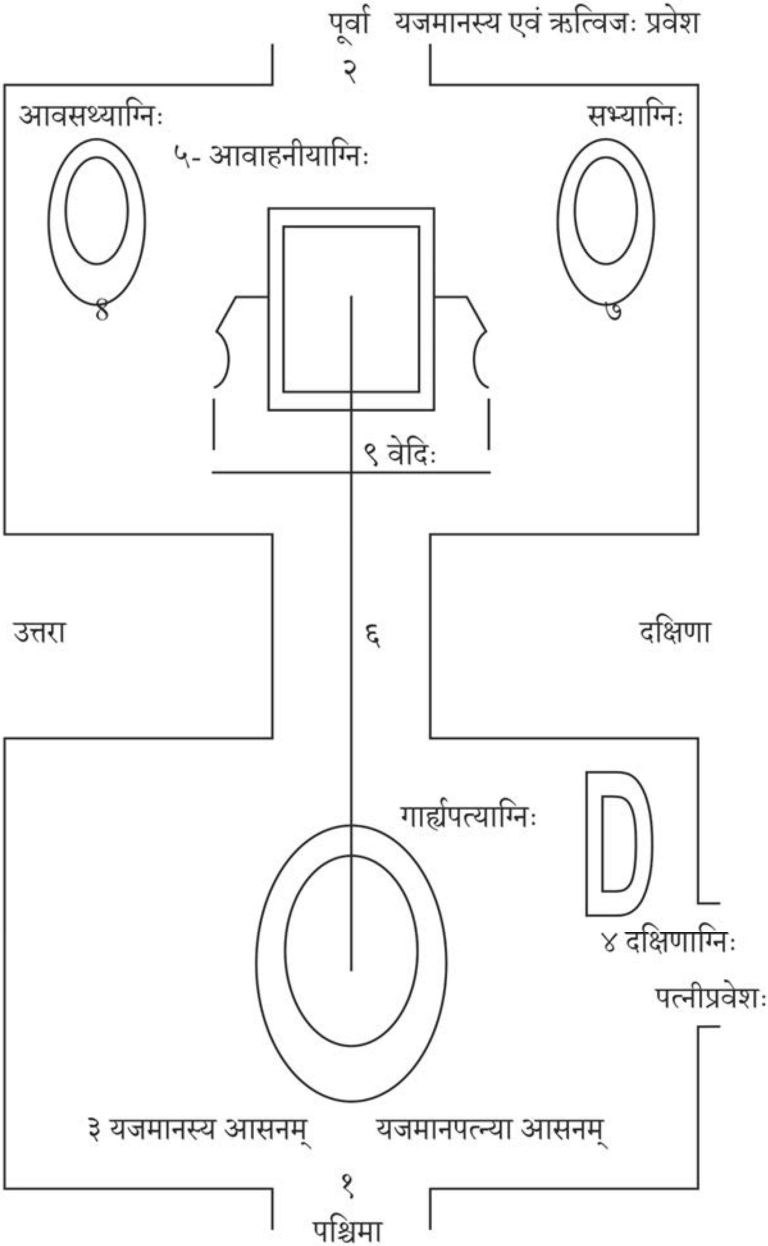
अमावास्यायामग्न्याधेयम्, अमायामुपवास विधानात् अत्रत्यममापदंगौण्या विषया प्रतिगद् विषयम्। अतः अमायामुपोष्य प्रतिपदाधानम्। आपस्तम्ब श्रौतसूत्रानुसारेण पौर्णमास्यामप्याधानं कर्तुं शक्यते (५/३/१७)

कृतिका रोहिणी मृगशिरः फाल्गुनी (अत्रामावस्याकालेन सह नक्षत्राणां विकल्पोनतु अमानक्षत्रयोः समुच्चयः) हस्तो लाभाय वसन्तो ब्राह्मणवर्चसकामयोः ग्रीष्मः क्षत्रियकामयोः वर्षाः प्रजापशुकामवैश्यरथकृताम्, चित्रा च क्षत्रियस्य इत्येबमेभिः सूत्रैः ब्राह्मणादीनामग्निपरिग्रहणकालः सूचितः वर्षाप्रजापशुकामवैश्यरथकृताम् अयञ्चाग्निपरिग्रहणकालः सूत्रोक्तः चिन्तामण्युक्ताश्च समेषांमग्नीनां ग्रहणविषये वर्तते न तु केवलमावसथ्याग्निपरिग्रहणविषये।

अनन्तरं कात्यायनो लिखति अग्न्यागारे कुर्वन्ति उदग्वशं वाऽपरम्, दक्षिणपूर्वे द्वारे इति। अर्थात् अग्यागारद्वयं कुर्यात्। प्रथमं गार्हपत्यग्न्यगारं द्वितीयञ्च आहवनीयाग्न्यागारम्। तच्च द्वयमपि पूर्वाभिमुखम् उत्तराभिमुखं वा कुर्यात्। तत्र पूर्वस्यां दिशि दक्षिणस्यां च दिशि द्वारं भवेत्। एतच्चाग्न्यागारद्वयं वास्तुमुहूर्ते निर्मापयेत्। तच्चेत्थम्

गार्हपत्याग्न्यागारे गार्हपत्याग्निः दक्षिणाग्निश्च स्थाप्येते। आहवनीयागारे आहवनीयाग्निः सभ्याग्निश्च स्थाप्येते। सर्वथापूर्वं स्मार्ताग्नित्वेन आहवनीयागारे एवैशात्ये आवसथ्याग्निः स्थाप्यते। अग्निस्थापनकाले अग्निप्राप्तिविषये विकल्पचतुष्टयं विद्यते। प्रथमो विकल्पो निर्मथ्याग्निमादध्यात् इति।

अग्न्यागारः


पूर्वा यजमानस्य एवं ऋत्विजः प्रवेश
२
आवसथ्याग्निः
सभ्याग्निः
५- आवाहनीयाग्निः
८
७
९ वेदिः
उत्तरा
६
दक्षिणा
गार्ह्यपत्याग्निः
४ दक्षिणाग्निः
पत्नीप्रवेशः
३ यजमानस्य आसनम्
यजमानपत्न्या आसनम्
१
पश्चिमा

द्वितीयो वैश्यकुलादानीयाग्निमादध्यात्, तृतीयोऽम्बरीषकुलात्, अम्बरीषो नाम भ्राष्टे चणकादीनां पाचकः चतुर्थश्च महानसात् इत्येवं "गार्हपत्यागारे निर्मथ्यादधति, वैश्यकुलाम्बरीशमहानसाद्वा"। इत्येवं गार्हपत्याग्न्यादिविषये प्रतिपादितं कात्यायन श्रौतसूत्रे।[१८] आवसथ्याग्नि विषयेऽपि पारस्कर गृह्यसूत्रे[१९] **"वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ------- अरणिप्रदानमेके"** इत्येवं प्रतिपादितम्। फलतः आवसथ्याग्निरपि अरणिमन्थनात् प्राप्तो बहुपशुवैश्यकुलात् गृहीतो वा स्थाप्यते।

अरणिमन्थनप्राप्तिरेव सर्वथा प्रशस्य इति विषये ब्राह्मणग्रन्थाः प्रतिपादयन्ति-

ऐतरेय ब्राह्मण[२०] –अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीत्यत्याहाध्वर्युः "(होतारं प्रति) अभित्वा देवसवितरिति सावित्री मन्वाह। तदाहुः यदग्नये मथ्यमानायानु वाचा हाथ कस्मात् सावित्रीमन्वाहेति। सविता वै प्रसवानामीशे" सवितृ प्रसूता एवैनं तन्मन्थन्ति।

अथ यदरण्योरग्नीन् समारोहयते देवरथो वा अरण्ये देवरथ एवैनं तत् समारोहयते स एतेन देवरथेन स्वस्ति स्वर्गं लोकं समश्नुते। यद्वेव पुनः पुनर्निमन्थते तेनो हैवास्य पुनशधेयमुपातं भवति। इति शांखायनब्राह्मणे चोक्तम्।[२१]

१. शतपथ ब्राह्मणम्[२२]- **तद्धैकेनुऽदिते मथित्वा। तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति तदु तदुभेऽ अहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोपादानयोर्मनसश्च**

---

[१८] कात्यायन श्रौतसूत्रम् ४/६/१४,१५

[१९] पारस्कर गृह्यसूत्रे १/२

[२०] ऐतरेय ब्राह्मण ३/५/४

[२१] शाखायन ब्राह्मण २/६

[२२] शतपथ ब्राह्मणम २/१/४/८

पर्याप्त्या इति व्वदन्तस्तदुतथा न कुर्यादुभौ हैवास्य तथानुदितऽ आहितौ भवतोऽनुदिते हि मथित्वा तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति स य ऽ उदित ऽ आहवनीयं मन्थेत् स ह तत् पर्याप्नुप्यात् ॥

अरणीग्रहणविषये कात्यायनश्रौतसूत्रे प्रतिपादितं यत् **"अश्वत्थशमीगर्भारणी प्रयच्छति" अभावेऽगर्भस्य**[२३] अर्थात् शमीवृक्षे उत्पन्नो योऽश्वत्थवृक्षः तस्यारणी विधातव्ये, चेत् कदाचिदश्वत्थ वृक्षः शमीगर्भो नोपलभ्यते तदा सामान्येनाप्यश्वत्थवृक्षेण अरणी निर्मातव्ये इति।

अश्वत्थशमीगर्भारणी एव ग्रहणीये इत्यस्मिन् विषये श्रीमद्भागवते पुरुरवस उर्वश्याश्चोपाख्याने एका कथा समागता-

"अथैवमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१ ॥
गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति।
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ॥
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने ॥४२ ॥
स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानध्यायतो निशि।
त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥४३ ॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४ ॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये यत् तत् प्रजननं प्रभुः ॥४५ ॥
तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभायसुःय
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितास्त्रिवृत ॥४६ ॥[२४]

---

[२३] कात्यायन श्रौतसूत्रम् ४/७/२०,२१

[२४] श्री मद्भागवत् ८/१२/४१-४५

अर्थात् यदा उर्वशी पुरुरवसं त्यक्त्वा गतवती तदा राजा पुरुरवा तस्याः विरहेण दुःखितस्तामन्वेषयन्नैकदा कस्मिंश्चित् पर्वते तामपश्यत्। सा च तमकथयत् यत् मामधिगन्तुमिच्छसि चेत् गन्धर्वान् स्वमनुकूलं विधाय तान् मां याचस्व इति। स तान् संस्तूय तेभ्यः अग्निस्थालीं लब्धवान्। तामग्निस्थालीमुर्वशीं मन्यमानः स वने विचरन् ज्ञानं प्राप्तवान् तदा वने अग्निस्थालीं न्यस्य रात्रौ गृहानागत्य उर्वशीमचिन्तयत्। तस्मिन्नेव समये त्रेतायुगस्य प्रारम्भः सञ्जातः। तदा राज्ञो हृदि ऋग्यजुः सामानि छन्दांसि प्रकटितानि। तदा राजा पुरुरवा वने च अग्निस्थालीस्थापनसमये गतवान्। यत्राग्निस्थालीस्थाने समीगर्भोऽश्वत्थवृक्षः उदपद्यत। तं दृष्ट्वा तस्मादरणि द्वयंमन्थनं च निर्माय उर्वशीलोककामनया अधरारणिमुर्वशींमुत्तरारणिं च मन्यमानः मध्ये मन्थनदण्डरूपेणात्मानं मत्वा मन्थनं कृतवान् तेन मन्थनक्रियया जातवेदनामकः अग्निः सञ्जातः। स च राजा तम् अग्निं गार्हपत्यम् आहवनीयं दक्षिणाग्निरिति कल्पयित्वा पुत्ररूपमग्निमङ्गीकृतवान्। तेनाग्निना भगवन्तं यज्ञेनाराध्योर्वशीलोकं प्राप्तवान्। इति।

श्रीमद्भागवते लिखितं यत् मन्त्रतः मन्थनं कृतवान् तर्हि के मन्त्रा आसन् मेषां पाठो मन्थनेऽभवत् इति विषये श्रौतसूत्रे न किञ्चिल्लिखितं किन्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु विवरणं प्राप्यते-

(१) ऐतरेय ब्राह्मण- **त्वामग्ने पुस्करादधीति तृचमाग्नेयं गायत्रम् न्वाग्नौ मथ्यमाने स्वयैवैनं तद् देवतया स्वेन छन्दसा समर्धयति। अथर्वा निर्मन्थतेति। रूपसमृद्धम्। एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। स यदि न जायेत। यदि चिरं जायेत राक्षोह्न्यो गायत्रोऽनूच्याः। अग्ने हंसि न्यत्रिणमित्येताः रक्षसापहत्यै॥**

- - - - अर्थात् अरणीमन्थनसमये **त्वामग्ने पुस्करादद्ध्यथर्वा इति,**

भुवो यज्ञस्य इति, अबोध्यग्निरिति मन्त्रत्रयं पठेत्[२५] यदि मन्थनसमये पर्याप्ते श्रमे कृतेऽपि नाग्निसमुद्भवस्तदा रक्षोघ्नमन्त्रान् पठेत्[२६]। **ते सन्ति रक्षोहणं, स्वरासि, रक्षोहणो.** इति। एतेषां पाठः तत्र करणीयः। अनन्तरं ऋग्वेदस्याष्टमाध्यायस्य **अग्नेहंसिन्यसिन्यत्रिणमि**त्यादयो नव मन्त्राः पठनीयाः।

परम्परात अपि अग्निमन्थनसमये शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनशाखायाः तृतीयाध्यायस्य मन्त्राणां पञ्चमाध्यायस्य च नवानां मन्त्राणां पाठः क्रियते। यथा-पूर्वलिखित उर्वसीपुरुरवसोः वृत्तान्तः तस्योल्लेखोऽपि मन्त्रेऽस्मिन् दृश्यते -

"अग्नेर्ज्जनित्रमसि व्वृषणौ स्थ उर्वश्यास्यायुरसि पुरुरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थानमि॥[२७]**"**

इत्थमग्निमन्थनसमये मन्त्रपाठानां परम्परा भवति। यस्योल्लेखः ऐतरेयब्राह्मणे श्रीमद्भागवते च विद्यते।

मन्थनकाले यजमानः अधरारणिं नीचैः संस्थाप्य तस्योपरि मन्थनदण्डं निधाय मन्थन दण्डोपरि चोत्तराणि निधाय उत्तरारणिं स्वयमेव नियन्त्रयेत्। अधरारणिं च ऋत्विजः, पत्नी च मन्थनं कुर्यात् श्रमितायाञ्च तस्यामन्ये ऋत्विजो मन्थनकर्मणि साहाय्यं कुर्युः। मन्थाज्जातमग्निं कांस्यपात्रे संरक्ष्य पूर्वम् आवसथ्याग्निश्वरे तं यथा नियमं स्थापयेत्। अग्निसंरक्षणञ्च शुष्कगोमयैः समिद्भिश्च।

---

[२५] शु.य.वे.१२/२२-२४॥

[२६] शु.य.वे. ५/२३-२५

[२७] शु.य.वे. ५/२

खरसंस्कारप्रकारः-

अग्निहोत्रस्थानं खरः कथ्यते। यतो हि आवसथ्याग्निः प्रथमं स्थाप्यते तस्य परिज्ञानं पूर्वं क्रियते। आवसथ्याग्निखरस्थानमग्न्यागारे ईशानकोणे भवति। सार्धत्रयोदशाङ्गुलपरिमाणरज्जुना ईशानकोणस्थानभूमौ मध्ये शङ्कुमारोप्य तत्र रज्जुसम्बद्धदक्षिणावर्तेनैकवारं परिभ्रामयेत्। येन वृत्तः समाद्यते। सर्वतस्तत्र द्वादशाङ्गुलपरिमिताश्चत्वारः परिधयो भवन्ति। सर्वं स्वरूपं स्थण्डिलवत् भवति। गार्हपत्याग्निखरस्यापि स्वरूपं तथैव भवति। आहवनीयखरस्य स्वरूपं चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मकं भवति। परिधयश्चत्वारो द्वादशाङ्गुलात्मकाःस्वरूपं चतुरस्रं भवति। दक्षाग्निखरस्य स्वरूपम् अर्धविवृतात्मकं भवति। तत्र अग्न्यागारस्य दक्षिणे दक्षिणद्वारस्य समीपे गार्हपत्यागारस्य आग्नेय्यां दिशि दक्षिणाग्निखरो भवति। अत्र तस्य स्थानस्य मध्यभागं कल्पयित्वा तत्र शंकुं संस्थाप्य तत्रैकोनविशतिमानं रज्जुकोणं संबद्ध्य अर्धवृतत्वेन परिभ्रामयेत् रज्जुस्तेन अर्धवृतात्मकं स्वरूपं भवति। तत्रापि सर्वतो द्वादशाङ्गुलात्मकः परिधिर्निर्मीयते। सभ्याग्निखरश्च भवति आहवनीयाग्निसमीपे आग्नेय्यां दिशि। एतस्यापि स्वरूपं भवति वृतात्मकं गार्हपत्याग्निखरवदिति बोध्यम्। एतेषां खराणामपि निर्माणमग्न्यागारस्य निर्माणसमय एव क्रियते। समेषामपि संस्कारस्य नियमस्तु तुल्य एव। परिधिनिर्माणमपि तथैव सर्वेषां खराणां द्वादशाङ्गुलपरिमाणात्मकाः परिधयश्चतुराङ्गुलात्मकमानेन त्रयस्त्रयः भवन्ति। आहृत्य उच्चैस्त्वं द्वादशाङ्गुलात्मकं भवति। तत्र प्रत्येकं त्रयाणामपि स्वरूपं क्रमशः सत्वरजस्तमात्मकं भवति। अर्थात् प्रथमः परिधिः य उपरि भवति सः श्वेतः, द्वितीयो रक्तः तृतीयश्च कृष्णः। यत्र क्रमशः विष्णुब्रह्मरुद्राणां स्थापनं पूजनादिकं भवति। खरमध्ये च विश्वकर्मणः स्थापनं पूजनं च। अनन्तरं

पञ्च भूसंस्काराः। प्रथमं कुशत्रयेण परिसमूहनं (खराभ्यन्तरभागस्य स्वच्छताविधानम्) अनन्तरं गोमयेन उपलेपनम्, अनन्तरं स्फयेन पश्चिमः पूर्वं यावत् रेखात्रयविधानम्, अनन्तरं च रेखाकरणस्थानमूलभागात् प्रांशूद्धावनं पश्चात् न्युब्जपाणिना अभ्युक्षणं भवति। अत्र कुशैः यैः परिसमूहनं भवति। तेषामैशान्ये प्रक्षेपो भवति। प्रांशूनाञ्च प्राच्यां दिशि प्रक्षेपो भवति। अयमेव खर निर्माणसंस्कारो भवति।[२८]

अग्न्याधानक्रमः- पूर्वं प्रतिपादितं यत् मन्थनात् प्राप्तोऽग्निरुत्तमो भवति। मन्थनस्य कृते अरणीद्वयं मन्थनदण्डो नेत्रादिकञ्चावश्यकं भवति। एतेषां किं स्वरूपम् इति विषये **पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्याकारः कर्काचार्यो** वैशद्येन प्रतिपादयति-

"अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः।
तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा॥
अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मध्ये चोत्तरारणिः।
सारद्दारवं चात्र मोविली च प्रशस्यते॥
संसक्तमूलो यः शम्या स शमीगर्भ उच्यते।
अभावे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः॥
चतुर्विंशाङ्गुलादीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला।
चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता॥
मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम्।
अन्तरं देवयोनिः स्यात् तत्र मध्ये हुताशनः॥
मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी।
अङ्गुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यङ्गुष्ठं वक्ष उच्यते॥

---

[२८] परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय। पारस्कर गृह्यसूत्र। प्रथम कण्डिका।

अगुष्ठमात्रं हृदयमङ्गुष्ठमुदरं तथा।
एकाङ्गुष्ठा कटिर्ज्ञेया बस्तिर्द्वौ च गुह्यकम्॥
ऊरू जङ्घे च पादौ च चतुरुच्चैर्यथाक्रमम्।
अरण्यावयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः॥
एतद् गृह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते।
तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याण कृदुच्यते॥
प्रथमे मन्मने ह्येष नियमो नोत्तरेषु च।
अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्रं स्याद्द्वादशाङ्गुलम्॥
ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयन्त्रकम्।
गोवालैः शणसम्मिश्रैः स्त्रिवृदुत्तममंशुकम्॥
व्योमप्रमाणं नेत्रं स्यात् तेन मथ्यो हुताशनः।
चात्रबुध्ने प्रम्थाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः॥"[२९]

एवंभूतमरणिजद्वयमन्थनादिकञ्चादाय मन्थनं विधाय कांस्यपात्रेऽग्निं धृत्वा शुष्कगोमयेन च सम्वर्धयेत।

अग्निस्थापनकर्मणः पूर्वं सर्वां नित्यक्रियां स्नानादिकीं सन्ध्यावन्दननित्यदेवपूजादिकीं विधाय आहते क्षौमवस्त्रे च परिधाय सपत्नीको यजमानः[३०] अग्न्यागारं प्रविशेत्। तत्र यजमानः ऋत्विजश्च पूर्वद्वारेण,[३१] यजमानपत्नी च दक्षिणद्वारेण प्रविशेत्। अग्नेः पश्चिमे यजमानः, यजमानपत्नी च पत्युर्दक्षिणे स्वासने उपविशतः।[३२] यजमानस्य दक्षिणत एव चत्वारः ऋत्विजः होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा एते उपविशन्तु।

---

[२९] पारस्कर गृह्यसूत्र द्वितीय कण्डिकाकर्कभाष्यम्

[३०] वामेवस्तेऽहते पत्नी च का. श्रौ. ४/७/१२

[३१] पूर्वेण प्रविशति दक्षिणेन पत्नी

[३२] पश्चादग्नेरुपविशतरे दक्षिणतः पत्नी

इष्टदेवताचिन्तनं कार्यमारभेत् देहशुद्धपूर्वकं कार्याधिकारसिद्ध्यर्थं संकल्पं विधाय गणेशाम्बिका पुण्याहवाचनमातृकापूजनमाभ्युदयिकश्राद्धादिकं कर्म कुर्यात् ऋत्विजां वरणकर्म च कुर्यात् (आवसथ्याग्नावप्यतेत् करणीयमिति केचित्) वरणादिकं च ऋत्विजां दक्षिणजानुसंस्पृश्य कुर्यादिति परम्परा विद्यते। वरणक्रमश्च होता अध्वर्युः उद्गाता ब्रह्मा इति भवति। वरणानन्तरं पूजनं विधाय वरणसामग्रीभिश्च सम्मानयेत्। ते च सपत्नीकं यजमानमाशीर्वचोभिर्भूषयन्तु इति।

अनन्तरं पूर्वोक्तरीत्या अरणिमन्थनद्वारा पञ्चभूसंस्कारसंस्कृते खरे अग्निमन्त्रैरग्निं स्थापयेत्। "**चातुष्प्राश्यपचनवत्**" इति पारस्करगृह्यसूत्रोल्लेखात् गार्हपत्याग्निस्थापनकृत्यतुल्यमेवात्रापि कुर्यात्। पूर्वं येषां ऋत्विजां वरणं विहितं तेषां कृते तस्मिन्नग्नौ चतुर्ण्णां भोक्तुं योग्यं पाकं कुर्यात्। तत्रादौ अग्नेर्दक्षिणतः ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्र ब्रह्माणमुपवेश्य प्रणीतापात्रमादाय ब्रह्माणं दृष्ट्वा जलं प्रपूर्य पात्रासादनं कुर्यात्।अग्नेरुत्तरतः प्रागग्रैः कुशैः आसनत्रयम्। तत्र एकमग्नेरुत्तरतः द्वितीयं तदुत्तरतः, तृतीयं तत्पश्चिमे वायव्यामासादयेत्। अनन्तरं चमसं दक्षिणहस्तेनादाय वामपादौ कृत्वा प्रागग्रं निधाय दक्षिणहस्तोद्धृतपात्रोदकेन प्रणीतापात्रं प्रपूर्य पश्चिमासने निधाय दक्षिणानामिकया जलमालभ्य ब्रह्मणोमुखमवलोकयन् अग्नेरुत्तरतः पूर्वस्थापिते प्रणीतासने स्थापयेत् प्रणीतापात्रम्। अनन्तरं कुशैरास्तरणं भवति तत्र पूर्वम् उत्तराग्रं कुशत्रयं, दक्षिणे पूर्वाग्रं कुशत्रयं, पश्चिमे उत्तराग्रं कुशत्रयम् उत्तरे च पूर्वाग्रं कुशत्रयमासादयेत्। पवित्रछेदनास्त्रयो दर्भाः साग्रेऽनन्तगर्भे द्वे पवित्रे, प्रोक्षणीपात्रम्, आज्यस्थाली, पाकस्थाली, सम्मार्गकुशाः पञ्च, उपयमनकुशाः सप्त, तिस्त्रः समिधः, स्रुवः, स्रुक्, आज्यम्, पाकाय त्रिपाक्षिततण्डुलाः पूर्णपात्रं समिधः

शुष्कगोमयखण्डानि च स्थाप्यन्ते क्रमशः। तत्रादौ प्रागग्रयोर्द्वयोः पवित्रयोरुपरि उदगग्राणि त्रीणि पवित्राणि निधाय उपरि प्रादेशमात्रमवशेषं विधाय अधोभागे द्वयोर्मूलेन द्वौ कुशौ प्रदिक्षिणीकृत्य त्रयाणां मूलानि अग्रभागान् एकीकृत्य नखैः स्पर्शं विनैव अनामिकाङ्गुष्ठेन द्वयोरग्रे छेदयेत्। द्वे पवित्रे अग्रभागेऽवशिष्टे प्रादेशमात्रे ग्राह्ये। द्वयोर्मूले त्रीणि च उत्तरतः प्रक्षिपेत्। पश्चात् प्रणीतोत्तरतः प्रोक्षणीपात्रं निधाय चुलुकेन प्रणीतोदकमादाय प्रपूर्य पवित्राभ्यां प्रोक्षणीपात्रजलमुत्पूय पवित्रे प्रोक्षिणीपात्रे निधाय दक्षिणहस्तेन प्रोक्षिणीपात्रमुत्थाप्य वामे हस्ते च निधाय दक्षिणहस्तमुत्तानं कृत्वा मध्यमानामिकाङ्गुल्योः मध्यपर्वाभ्यामपामुद्दिङ्गनम्। पश्चात् प्रणीताजलेन प्रोक्षणीपात्रजलस्य प्रोक्षणमनन्तरं आज्यस्थाली - पाकस्थालीसम्मार्ग कुशोपयमनकुशसमित्स्रुवस्रुगाज्यतण्डुलपूर्णपात्रादीनां प्रोक्षणं क्रियते यजमानेन। अनन्तरं खरे आज्यसस्काराय तत् पात्रे आज्यनिर्वाप पश्चात् पाकपात्रे तण्डुलान्निक्षिप्य तत्र प्रणीताजलं आसिच्य आवश्यकमन्यदपि जलं यथायोग्यं दत्वा ब्रह्मणः दक्षिणतः आज्यस्य पाकपात्रस्य च अधिश्रयणं यजमान आचार्यो वा कुर्यात्। आज्यस्योत्तरतः ज्वलदुल्मुकेन गृहीतेन ऐशानीमारभ्य तत् पर्यन्तं पर्याग्निकरणं भवति। पश्चात् हस्तेन इतरथा वृत्तिः क्रियते। अर्धशृते पाके स्रुवस्य प्रतपनं भवति। दक्षिणहस्तेन स्रुवमादाय तत् प्रतप्यते प्राञ्चमधोमुखमग्नौ। पश्चात् तद्वामहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तेन सम्मार्गकुशानादाय तैर्मूलतोऽग्रपर्यन्तं सम्मृज्य पुनश्चाग्नौ स्रुवं प्रतप्य स्रुवं दक्षिणतो निदध्यात्। सम्मार्ज्य कुशान् चाग्नौ प्रक्षिपेत्। पाकं च खरस्य पूर्वभागात् उत्तरतोनीत्वा अग्नेः उत्तरतः प्रोक्षण्याः पश्चिमे स्थापयेत्। आज्यं च अग्नेः पश्चादानीय स्थापयेत्। पश्चात् पाकं आज्यस्य पूर्वेण

प्रदक्षिणमानीय आज्यस्योत्तरे स्थापयेत्। पवित्राभ्यामाज्यस्य उत्पवनं कुर्यात् अनन्तरं प्रोक्षण्याः प्रत्युत्पवनं कुर्यात् पवित्रे च प्रोक्षण्यां निधाय दक्षिणहस्तेन उपयमनकुशानादाय वामे कृत्वा दक्षिणहस्तेन घृताक्ताः तिस्रः समिधः तिष्ठन्नेव अग्नौ आधाय दक्षिणचुलुकगृहीतेन सपवित्रेण प्रोक्षणीपात्रोदकेन अग्नेः ईशानकोणादारभ्य ईशानकोणपर्यन्तं प्रदक्षिणवत् पर्युक्षणं इतरन्वथावृत्तिं च कुर्यात्, पवित्रे च प्रणीतापात्रे स्थापयेत्। पुनः अग्नेः प्रदीप्ति करणं भवति। अनन्तरं ब्रह्मणान्वब्धो भूत्वा दक्षिणजान्वाच्य उपयमनकुशसहितं प्रसारिताङ्गुलिहस्तं हृदि निधाय पूर्णप्रज्वलितेऽग्नौ मनसा प्रजापतिं ध्यायन् प्रणवपूर्वकं स्रुवेण प्राञ्चमूर्ध्वमृजुं संततमाज्येन मनसा **ओम् प्रजापतये स्वाहा** इत्युक्त्वा संस्रवं प्रक्षिपेत् उच्चैश्च **इदं प्रजापतये इदं न मम** इत्युक्त्वा हवनावशिष्टमाज्यं स्रुवस्य प्रोक्षण्यां कुर्यात्। एवमेव क्रमशः **त्वन्नोऽअग्नेः सत्वन्नोऽअग्नेः, इमं मे वरूणः,ये ते शतं वरुणः, अयाश्चाग्ने, उदुत्तमं वरुण...,** भवतन्नः इत्यष्टाभिर्मन्त्रैराज्येनाष्टाहुतिं कुर्यात् प्रोक्षण्यां संस्रवस्य कुर्यात्। स्विष्टकृतं होमं च विधाय पाकस्थमन्नमपि हुत्वा अवशिष्टस्य भागचतुष्टयं विधाय ऋत्विग्भ्यो भोजयेत् तेभ्यो वरं गोहिरण्यादिकं वरं दक्षिणां दद्यात् इति क्रमो भवति[३३] आवसथ्याग्नौ। आवसत्थ्यं गृहम्, तस्याग्निः आवसथ्याग्निः कथ्यते। अयमेव स्मार्ताग्निः गृह्याग्निरपि कथ्यते। आवसथ्याग्निपरिग्रहस्यानन्तरं प्रतिदिनं सायम्प्रातः औपसनहोमं क्रियते। तत्रैव वैश्वदेवः पार्वणम्, अष्टकाश्राद्धं मासिश्राद्धं श्रवणाकर्म शूलगव इति सप्त पाकसंस्थाः क्रियन्ते।[३४]

---

[३३] चातुष्प्राश्यप्रचनवत् पारस्कर गृ. १.१.२, चत्वार ऋत्विजः प्राश्नन्ति का. श्रौ. ४/८/६, शद्धरन्ते ब्रह्मौदन इत्याह ॥४/८/७॥, वरं ददति॥ ४/८/८॥

[३४] पारस्कर गृह्यसूत्र

औपासनहोमः – स्मार्ताग्नौ सायम्प्रातः प्रतिदिनं क्रियमाणं हवनम् औपासनहोमः कथ्यते। हवनमिदं सायङ्काले, प्रातःकाले च क्रियते स्मार्ताग्नौ। सायङ्कालस्य देवता अग्निः प्रातः कालस्य च सूर्यो भवति। कालद्वये स्विष्टकृतस्थानीयस्य प्रजापतिसंज्ञकस्य देवस्य कृते द्वितीया आहुतिर्दीयते। सायम्प्रात इति कालद्वयकर्म आदाय एकं कर्म भवति। अतः कालद्वये हविर्हवनकर्ता च तुल्यो भवेदिति नियमः। यावज्जीवनं कृत्यमिदं सपत्नीको यजमानो विदधाति। अस्मादेव आवसथ्याग्नेः किञ्चदग्र्यं शमादाय पाकशालायां पाकं (भोजनादिकं हविष्यान्नेन निर्मितम्) सपत्नीको यजमानो भुञ्जीत। पश्चात् पाकशालाग्निमादाय आवसथ्याग्नौ मेलयेत्।[३५]

होमद्रव्यविषये कथितमस्ति यत् "**पयसा सर्वकामस्य, दध्नेन्द्रिय कामस्य, आज्येन तेजस्कामस्य, तैलैन (तिलतैलेन) श्रीकामस्य, ओदनेन प्रजाकामस्य, यवाग्वा ग्रामकामस्य, तण्डुलैर्बल कामस्य, सोमेन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मांसेन पुष्टिकामस्य, उदकेनायुष्यकामस्य**[३६]" एवमेव देवयागपद्धतावपि हविर्द्रव्याणि कीर्तितानि।

तैलं, दधिः, पयः, सोमो यवागूरोचनं घृतं।
(दाडिमः) तण्डुलामासमापश्च दशद्रव्याण्यकामतः॥[३७]

सायम्प्रातः हवनविषये कालद्वयं निर्धारितमस्ति। प्रथमः सायम् सूर्यास्तात् पूर्वं प्रातः सूर्योदयात् पूर्वमग्निहोत्रं कुर्यात्[३८]। द्वितीयञ्च सायं सूर्यास्तादनन्तरं प्रातः सूर्योदयादनन्तरं जुहुयात्। अत्रापि पक्षद्वम्। प्रथमः आजीवनं तस्मिन्नेव तदेव च द्रव्यं औपसनाय समाश्रयेत्। द्वितीयश्च तस्मिन्नेव दिने कालद्वये तदन्नं समाश्रयेत् कालश्च यावज्जीवनमिति। अथवा

---

[३५] आपस्तम्ब श्रौ.११०।९-१०

[३६] वैतायन श्रौ.सू.३/९/१८

[३७] देवयाग पद्धत पृ.१२७

[३८] सायंप्रातरग्नहोत्रं जुहोति।४।१५।९

तत् तत् कार्यसिद्धये तं तं कालं द्रव्यं वा समाश्रयेत्। तद्यथा स्वर्गकामः सायमस्तमिते प्रातरुदयसन्निकृष्टकाले जुहुयात्। आयुष्कामः सायमन्धकारस्यागमे प्रातरन्धकारस्यापगमे जुहुयात्। पशुकामः सायम्पशुषु ग्राममध्यसमागतेषु प्रातश्च निष्क्रान्तेषु जुहुयात्। श्रीकामश्च जनेषु सुप्तेषु प्रातः सायमास्तमिते च सूर्ये जुहुयात्।[३९]

एवमेव प्रजाः ताडयित्वा ताभ्यः बलाद्धनाकाङ्क्षी क्षत्रियः ज्वालाप्रादुर्भावे धूप्यमानेऽग्नौ जुहुयात्। स एव लोहकटिकादिना बद्ध्वा बलेन प्रजाभ्यो धनकामः कररूपेण बहुज्वालायुतेऽग्नौ जुहुयात्। सर्वे द्विजातयः श्रीयशस्कामः अग्नौ प्रदीप्ततमे जुह्वतु। ब्राह्मणाश्च ब्रह्मवर्चसकामः प्रदीप्यमानेषु अङ्गारेषु अग्नौ जुह्वतु।[४०]

एवं स्वर्गकामः पयसा, पशुकामश्चापि, ग्रामकामः यवाग्वा, बलकामः तण्डुलैः, इन्द्रियकामः दध्ना, तेजस्कामः घृतेन, इत्याद्युक्तं वर्तते।[४१]

औपसनहोमस्य विषये शाङ्खायनब्राह्मणेऽपि प्रतिपादितम्। -

धर्मो वा एष प्रवृज्यते यदग्निहोत्रं तदसौ वै धर्मो योऽसौ तपत्येतमेव तत्प्रीणाति। स वै साम्यञ्च प्रातश्च जुहुत्यग्नये सायं, सूर्याय प्रातः सौर्यं वा अहराग्नेयी रात्रिर्मुखत एव यदहोरात्रे प्रीणाति। पयसा जुहुयादेव ह वै सर्वासामौषधीनां रसो यत् पयः सर्वैरेव तद्रसैरग्नीन् प्रीणाति तदु वा आहुर्यदशनस्यैव जुहुयात् सर्वं वा इदमग्नेरन्नं स्वेव वै तदन्ननेवाग्नीन् प्रीणातीति।[४२] मुखस्यान्नं धीयते धूमायन्त्यां ग्रामकामस्य जुहुयात्।

---

[३९] का. श्रौ. ४/१५/११-१४

[४०] का. श्रौ.४/१५/१५-१८

[४१] का. श्रौ.८/१५/२०-२५

[४२] शाङ्खायन ब्रा.२/७

ज्वलन्त्यां ब्रह्मवर्चसकामस्याङ्गारेषु पशुकामस्यायेति त्वेव स्थितमत्र ह्येवैते सर्वे कामा उपायन्त इत्युभे आहुती हुत्वा जपति वा यज्ञस्य समृद्धस्याशीः सामे समृद्ध्यतामिति।[४३]

औपसनहोमस्य अनन्तरं वैश्वदेव कर्म क्रियते आवसथ्याग्नौ। अत्र प्रातःकालिकम् आह्निककृत्यम् औपसनहोमं च विधाय वैश्वदेव कर्म क्रियते। अत्र कर्माणि स्मार्ताग्नौ देवानां ते कृते आहुतयः पितृणां कृते बलिर्दीयते।[४४] अनन्तरं पार्वणविधिः क्रियते। कर्म इदममावस्यायां तिथौ पितृपितामहप्रपितामहादीनां कृते क्रियमाणं श्राद्धं पार्वणश्राद्धं कथ्यते।[४५] पश्चात् अत्रैवाग्नौ अष्टकाश्राद्धं क्रियते। एतच्च हेमन्ते शिशिरे च ऋतौ मार्गशीर्षशुक्लपूर्णिमायाः पश्चात् चतसृषु अष्टमीतिथिषु क्रियमाणं श्राद्धमष्टकाश्राद्धं कथ्यते। अत्र इन्द्रविश्वेदेवप्रजापतिपित्रादीनां निमित्ताय अपूपैः शाकैश्च अनुष्ठानं भवति।[४६]

एतस्यानन्तरे मासि श्राद्धं क्रियते। अत्र पितृनुद्दिश्य प्रतिमासं क्रियमाणं श्राद्धं मासि श्राद्धं कथ्यते।[४७]

पश्चात् श्रवणाकर्म भवति। एतस्मिन् कर्मणि सायङ्काले सर्पेभ्यो बलिर्दीयते। अनुष्ठानमिदं श्रावणपौर्णमास्यां क्रियते।[४८]

पश्चात् शुलगवकर्म आवसथ्याग्नौ विधीयते। अनुष्ठानेऽस्मिन् रुद्रदेवतामुद्दिश्याग्निहोत्रं क्रियते। अत्र साण्डस्य पशोरालाभनं विधाय तस्य

---

[४३] शाङ्खायन ब्रा.२/२

[४४] श्रौ.सू. १/१

[४५] पा.गृ./३/१

[४६] श्रौ.सू.१/१

[४७] पा.गृ.२/१७

[४८] संवत्सरं वा पुरस्तात् कुर्यात् ततः सर्वानादधीत

वपां श्रपयित्वा स्थालीपाकं निर्माय रुद्राय अग्नौ आहुतयो दीयन्ते। कर्म इदं सर्वदा कर्तुं शक्यते।

सप्तपाकसंस्थायागान् विधाय संवत्सरस्यानन्तरं श्रौताग्निपरिग्रहणं कुर्यात्।[४९]

गार्हपत्याग्निखरे अग्निस्थापनम्- अग्न्यागारद्वये प्रथमाग्न्यागारो गार्हपत्यागारो भवति। गार्हपत्यागारे गार्हपत्याग्निखरस्य निर्माणप्रकारः संस्कारश्च कथितः मया वसन्ताधृतवो नक्षत्रादयश्च पूर्वोक्ता एव अत्रापि स्वीक्रियन्ते। गार्हपत्यागारे निर्मथ्याभ्यादधाति।[५०]

इति कथनादत्रापि निर्मथ्याग्निमादध्यात्। अथवा **"वैश्यकुलाम्बरीष महानसाद् वा"**[५१] इति कथनात् वैश्यकुलात् भर्जनस्थानात् महानसाद् वा अग्निमादाय आदध्यात्। उत्तमत्वात् मन्थनप्राप्तमग्निमेवाध्यादिति परम्परायां विद्यते। अतएव तत्रापि पूर्वं मन्धनात् प्राप्तिरग्निपरिग्रहविषये उक्तम्।[५२]

गार्हपत्याग्निं कदा परिदध्यादिति विषये कात्यायनो वदति **गार्हपत्यागारेऽजं बध्नाति वा, विद्यमानं प्रातरग्नी दद्यादस्तमिते।**

अर्थात् अस्तमिते सूर्ये गार्हपत्यागारे अजं बध्नीयात्। अथवा न वा बध्नीयात्। यदि तस्य पार्श्वे अजा स्यात् तां तर्हि द्वितीयदिने प्रातः अग्नीध्रयसामदिने) दद्यात्।

अन्नतरमध्वर्युः रक्तवर्णे अनुडुहे चर्मणि चत्वारि ब्रीहितण्डुलपूर्णपात्राणि स्थापयेत् तान् तण्डुलान् एकस्यां स्थाल्यां

---

[४९]का.श्रौ.४/८/९

[५०] का.श्रौ. ४/७/१४

[५१] का.श्रौ. ४/७/७५

[५२] का.श्रौ.४/८/१

ऋत्विक्चतुष्टयतृप्तिक्षमं गार्हपत्याग्नौ पचेत्। पक्के ओदने तस्य मध्ये गर्तं विधाय लौकिकं घृतं प्रक्षिप्य **समिधाग्निमिति** त्र्यृचं पठेत् गर्भक्षिप्तघृतेनाप्ताः अश्वत्थीः तिस्रः समिधः तैर्मन्त्रैर्गार्हपत्याग्नौ प्रक्षिपेत्। तत्रैव उपत्वाग्ने इति, सुसमिद्धाय, इति च अध्वर्युः जपेत्। पश्चात् तमोदनं चत्वार ऋत्विजः प्राश्नन्ति। पश्चात् यजमानः चतुर्भ्यः ऋत्विग्भो वरं ऋत्विगभिलषितं स्वाधीनं वस्तु यथासम्पन्नं हिरण्यादिकं दद्यात्। रात्रौ जागरणं कुर्यात्। अग्नेः धारणं काष्ठखण्डैः गोमयशुष्कखण्डैः वा अग्निं प्रज्वालयेत्। अग्नेः रक्षणं च कुर्यात्।[५३]

गार्हपत्याग्निदक्षिणाग्निसभ्याग्निखरसंस्कारविषये अपरोऽपि कश्चन क्रमः **"स्थानमुल्लिख्याभ्युक्ष्यान्वारब्धेहिरण्यं निधायोषाखूत्करान्निवपत्यन्तेषु शर्कराः"** इति कात्यायनसूत्रेषु सूच्यते।[५४] अत्र पञ्चभूसंस्कारान् विधाय क्रमश ऊषरभूमेः मूषकोत्खनिततायाः मृत्तिकायाः पाषाणशर्कराणां तत्र प्रक्षेपेण गार्हपत्यादिखरान् संस्कुर्यात्।[५५] एतैः सम्भारैः गार्हपत्यादिखराणां संस्कारविधानम् आपस्तम्बश्रौतसूत्रेऽपि प्रतिपादितम्। तत्र सिकता ऊषरभूमिमृत्तिका, मूषकोत्खातमृत्तिका, अशोष्यजलाशयमृत्तिका, शर्कराः (अतिलघुपाषाणखण्डाः) वल्मीकमृत्तिका, सूकरमुखोत्खातमृत्तिका हिरण्यमेतानि द्रव्याणि कथितानि। केचन केवलमत्र हिरण्यं वाञ्छन्ति। एतैश्च सम्भारैः गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निखराणां संस्कारं कुर्यात्। शर्कराश्च गार्हपत्ये पञ्चाशत्, आहवनीये त्रिसप्ततिः, दक्षिणाग्नौ द्वाविंशतिः स्थातव्याः ॥[५६]

---

[५३] का.श्रौ.४/८/१-१२

[५४] का.श्रौ.४/८/१४

[५५] आपस्तम्ब श्रौ. ५/१/२

[५६] का.श्रौ. ४/८/१४-१५

गार्हपत्याग्निस्थापनादिकार्यविधानानन्तरं दक्षिणाग्निखरस्य संस्कारं विधाय गार्हपत्यखराद् दक्षिणदिशि अध्वर्युरग्निमन्थनं कुर्यात्। तत्रापि आहवनीयदक्षिणाग्न्योरुद्धरणं तु उदिते सूर्ये एव कुर्यात्। सर्वेषाम् अग्नीनां स्थापनाय अग्निमन्थनं प्राधान्येन कथितमस्ति। गार्हपत्यस्य पश्चादग्निमन्थनं करोति अध्वर्युः। तत्र आहवनीयाग्निस्थापनाय अग्निमन्थनस्य प्रारम्भे अध्वर्युः **अश्वमानय** इति अग्नीध्रं प्रति प्रैषं कथयति। आहवनीयखरस्य पूर्वे प्रत्यङ्मुखेऽश्वे स्थिते सति अध्वर्युः अग्न्यर्थं मन्थनमरण्योर्विदधाति। जातेऽग्नौ यजमानोऽध्वर्यवे वरदानं हिरण्यादिकं ददाति। अथवा मनसा वस्तु दानाय सङ्कल्पयति। पस्चाच्च ददाति तस्मै। जातस्याग्नेर्वर्द्धनाय मुखश्वासेन वायुं विदधाति।[५७] **"भूर्भुवः स्वः अङ्गिरसां त्वा देवानां."** इत्यादिमन्त्रैः आहवनीयखरे जातमग्निं स्थापयेद् ब्राह्मणः। क्षत्रियश्च **"व्वरुणस्य त्वा व्रतपते."** इत्यादिमन्त्रेण, **"वैश्योमनोष्ट्वा ग्रामण्यो."** इतिमन्त्रेण, रथकारश्च **ऋभूणां त्वा देवानां** इतिमन्त्रेणाहवनीयखरेऽग्निं समादध्यात्। अग्नीध्रः रथन्तरं गायेत्। अथवा सामगानमध्वर्योः स्यात्। अथवा ब्रह्मा गायेत् सामगानमध्वर्योः कार्यान्तरेणासक्तत्वात्। समिद्भिरग्निं प्रदीपयेत्। अग्नौ प्रज्वलिते सति मन्थनकाले प्राप्तोऽश्वः अश्वाभावे वृषभो वा आहवनीयाग्नेरग्रतः गच्छेत्। स चाश्वो (वृषभो वा) यस्मिनध्वर्युरुपविष्टो भवति आहवनीयखरं दक्षिणपूर्वपादेन, अग्निञ्च वामपादेन आहवनीयखरस्थानाद् हिरण्यादिसम्भारान् आक्रम्य गच्छेत्। अध्वर्युः तत्रारूढः तमश्वञ्च प्राञ्चं नीत्वा आवर्त्य प्रदक्षिणावर्तेन प्रत्यङ्मुखं कृत्वा तस्य सम्मुखं यथाश्रौतशास्त्रं स्थापयेत्।५८ यश्च नित्यं दक्षिणाग्निं वाञ्छति।

---

[५७] का.श्रौ. ४/८/१७-२७

[५८] का.श्रौ. ४/९/१-१४

गार्हपत्याग्नेरग्निमादाय दक्षिणाग्निखरे तमग्निं स्थापयेत् पूर्ववच्च संस्कुर्यात्।[५९]

यदा च सभायामाहताग्निश्शास्त्र चर्चार्थं गच्छति तदा आहवनीयागारेऽग्निकोणे सभ्यखरे सभ्याग्निं निर्मथ्य स्थापयति तस्य संस्कारान् विधाय तत्र श्रौतोक्तं कर्म कुर्यात्।[६०]

इत्येवमग्नीनामाधानं भवति

अयमग्निहोत्रकालविषयः शाङ्खायनब्राह्मणेऽपि विचारितः, यश्च उदिते जुहोति अनुदिते वा जुहोति महतो देवस्यातिथ्यं विदधाति पितृन् च प्रीणाति-

"उदिते होतव्यमनुदिते इति मीमांसते स य उदिते जुहोति प्रवसत एवैतन्महते देवायातिथ्यं करोत्यथ योऽनुदिते जुहोति सन्निहितायैवैतन्महते देवायातिथ्यं करोति। तस्मादनुदिते होतव्यं तद्धापि वृषशुष्मो वा तावतः पूर्वेषेमेको जीर्णो शयानो रात्र्यामेवोभे आहुती हूयमाने दृष्ट्वोवाच रात्र्यामेवोभे आहुती जुह्वतीति रात्र्यां हीति स होवाच वक्तास्मोन्वे वयममुं लोकं परेत्य पितृभ्योऽथो.......[६१]

अयं नियमो वर्तते अग्निहोत्रस्य यत् **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"**। स्वर्गोपमसुखकामनया आजीवनं प्रयत्नो भवति मानवानाम्। तच्च सुखं पुण्यकर्मभिर्लभते। तच्च पुण्यकर्म सर्वश्रेष्ठं यज्ञ एव। अत एव शतपथब्राह्मणे कथितम् **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"**[६२] इति। शुक्लयजुर्वेदेऽपि प्रथमे मन्त्र एव समुदीरितम् **"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय**

---

[५९] का.श्रौ. ४/९/१५-१६

[६०] का.श्रौ. ४/९/१८-२०

[६१] शाङ्खायन ब्रा. २/९

[६२] श.ब्रा.

कर्मणे."[६३] इति अनेन श्रेष्ठतमकर्मणा एव लौकिकालौकिकोभयसुखप्राप्तिः सम्भवति। शाङ्खायनब्राह्मणोऽपि वदति तथैव- **काल एव सर्वान् पचति। कालस्य चाहोरात्रात्मकस्य सन्धिद्वयमतः यतश्च सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति स मृत्युं तीर्त्वा स्वर्गाद्युत्तमलोकमश्नुते-"यदहोरात्रे तस्या हैते पक्षसी यत् सन्ध्ये तद्यथा पक्षाभ्यां क्षिप्र मध्वानमन्वयात् तादृक्ताद् यत् सन्धौ जुहोत्यथो मृत्योर्हवा एतो व्राजबाहू यदहोरात्रे तद्यथा व्राजबाहुभ्यां परिजिग्रहीप्यन्तरेणातिमुच्चेत तादृक् तद् यत् सन्धौ जुहोति तदु ह स्माह कौषितकिः सायमस्तमिते पुरा तमसस्तस्मिन् काले जुहुयात् स देवयानः केतुस्तमेवाऽरभ्य स्वस्ति स्वर्गं लोकं समश्नुते**"[६४]

यज्ञोऽयं सत्यस्वरूपं वर्तते। सत्यमेव सर्वान् लोकान् धारयति। अत एव सायमग्निं प्रातः सूर्यं ध्यात्वा यज्ञः क्रियते। तेन सत्यं प्राप्य सर्वान् कामान् साधयति। अत एव तादृक् मन्त्रो भवति यजुर्वेदे-

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्य्यो ज्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यःस्वाहा। अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा सूर्य्यो व्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्ज्योतिः स्वाहा।"[६५]

इति मन्त्रेणापि हविर्दीयते। यः सायमग्निमुद्दिश्य अग्निहोत्रं जुहोति तस्य आत्मा वाङ्मयः सत्यमयो भवति। यतो हि ये देवा अग्निहोत्रेण तप्यन्ते। ते समेऽपि सव्यमयाः सन्ति। त एव इमां सत्यमया देवा सत्यहुतस्य आहुतिं प्रतिगृह्णन्ति। सायं प्रातः अग्निहोत्रविभानेन यत् किमप्यसत्यमपि वर्तते तन्निराकृत्य देवा याजकस्य कृते सत्यमेव प्रकटयन्ति। याजकस्यात्मा यज्ञेन सत्यमयो भवति। अत एव शाङ्खायनब्राह्मणे प्रतिपादितं यत् "**प्रातर्जुहोति**

---

[६३] शु. यजु. स. १/१॥

[६४] शाङ्खायन ब्रा. २/९॥

[६५] शु. यजु. ३/९॥

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इति तं ज्योतिः सन्तं ज्योतिरित्याह सत्यं तस्यायं वाङ्मय आत्मा सत्यमयो भवति सत्यमय तु देवा अथ स्वाहेति जुहोति तस्यैतां देवाः सत्यहुतस्याऽहुतिं प्रतिगृह्णन्ति........[६६]

इत्यग्निहोत्रस्य आध्यात्मिको लाभो भवति सम्पूर्णजीवनस्य सत्यमयं विधानम्। आधिभौतिको लाभो यज्ञजन्यपुण्यकर्मभिः स्वर्गोपमसुखप्राप्तिः स्वर्गाद्युत्तमलोकप्राप्तिः। आधिदैविको लाभः इष्टदेवानां प्रीत्या सर्वं स्वानुकूलविधानम्।

एते यज्ञाः पूर्णरूपेण वैज्ञानिकाः तेषां प्रधानभूतं कर्म भवत्यग्निहोत्रं यच्चाग्निपरिग्रहेण सम्भवति। अतस्तदधिकारिजनैः शास्त्रबोधितनियमैरग्निपरिग्रहणं यज्ञमाध्यमेन अग्निहोत्रविधानं यथाशास्त्रं कर्तव्यमिति दिक्।

[६६] शाङ्खायन ब्रा. २/८॥

कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार वाङ्मय का स्वरूप

डॉ० कमलेशकुमार छ० चोकसी[१]

वाङ्मय शब्द की व्युत्पत्ति

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार वाक् प्रातिपदिक से प्रकृतवचन अर्थात् प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय हो कर वाङ्मय शब्द निष्पन्न होता है।[२] इस निष्पत्ति के अनुसार जिस में वाक् का प्राचुर्य है, जो वाक् से परिपूर्ण होता है, वह वाङ्मय है।

वाङ्मय शब्द का वाच्यार्थ

वाक् का प्राचुर्य या वाक् की परिपूर्णता साहित्य में होती है, अतः साहित्य के लिये भी वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत साहित्य में जहाँ-जहाँ इस वाङ्मय शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ प्रायः समग्र साहित्य का अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य तथा वाङ्मय दोनों शब्दों की अर्थच्छाया प्रायः एकसी दिखाई देती है। तद्यथा -

रम्यस्तज्जन्मगैर्लातैरेभिः दशभिरक्षरैः।

---

[१] **निदेशक, भाषासाहित्यभवन, गुजरात विवि तथा प्रोफेसर व अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, भाषासाहित्यभवन, गुजरात विवि, नवरंगपुरा, अहमदाबाद – ३८०००९ (गुजरात)**

[२] तत्प्रकृतवचने मयट् । - पा.सू. ५.४.२१

समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना॥ छन्द.१ (शब्दरत्नमहोदधिः भाग– ३ पृ. १८८१) यहाँ स्पष्ट रूप से ही वाङ्मय शब्द से साहित्य अभिप्रेत है।

सामान्य रूप से वाक् शब्द से वाणी का संकेत होता है। वह वाणी जो मानव मुख से निकलती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो वाक् का आशय शब्द है और जो शब्दमय है, वही वाङ्मय है।[३]

वाङ्मय का लक्षण

वाङ्मय का लक्षण देते हुए अग्निपुराण में कहा गया है कि - **ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम्।** (अग्निपुराणम् ३३७.१) अर्थात् ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य – यह सब कुछ वाङ्मय के रूप में माना जाता है। ये ध्वनि, वर्ण आदि मुख से निःसृत होते हैं, इस कारण अग्निपुराण के इस वचन का आशय भी मुख से निःसृत जो भी वाणी है, वह सब वाङ्मय है।

वाङ्मय एक कर्म के रूप में –

श्रीमद्भगवद्गीता में वाणी से सम्पन्न होने वाले कार्य को वाङ्मय मानकर वाङ्मय तप को अभिहित किया गया है। इस वाङ्मय तप का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि -

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥[४]

---

[३] वाक् से शब्द का अर्थ मन में रख कर महाकवि कालिदास ने स्वरचित रघुवंश के प्रारम्भ में वाक् तथा अर्थ को शिव तथा पार्वती के समान बताया है। - वागर्थाविव सम्पृक्तौ..। इत्यादि। यहाँ वाक् का आशय शब्द ही लिया जाता है। यह शब्द तद्गत अर्थ से भिन्न है, यह भी यहाँ प्रतिपादित है। इस भिन्नता के होने पर भी शिव तथा पार्वती की तरह इस वाक् अर्थात् शब्द तथा अर्थ की सम्पृक्तता को साधित करने की प्रार्थना करके मंगलाचरण किया गया है।

[४] भगवद्गीता, अध्याय १७ श्लोक १५

अर्थात् मनुष्य के द्वारा बोली जाने वाली वह वाणी जो उद्वेग को जन्म नहीं देती है, सत्य होती है तथा प्रिय तथा हितकारी होती है, वैसी वाणी का प्रयोग करना वाङ्मय तप कहा जाता है। साथ ही यहाँ पर (वैदिक-लौकिक साहित्य के) स्वाध्याय को तथा अभ्यास को भी वाङ्मय तप कहा गया है। इन दोनों विधानों में एक ओर समस्त भाषिक व्यवहार तो दूसरी ओर समग्र साहित्य समाविष्ट हो जाता है। इसी अर्थच्छाया को स्वीकार करते हुए गीता के भाष्यकार श्रीधर ने वाङ्मय के पर्याय के रूप में वाचिक शब्द का प्रयोग किया हैं। वाचिक शब्द का आशय भी वाक् अर्थात् वाणी के रूप में बोला जाने वाला शब्दमात्र है।[५] इसके बाद वे **स्वाध्यायाभ्यसनं वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्यं तपः**। - ऐसा कहकर वेद के स्वाध्याय को तथा वेदाभ्यास को वाङ्मय अर्थात् वाणी से निर्वर्तित होने वाले कार्य के रूप में निर्दिष्ट करते हैं।[६]

आचार्य मधुसूदन ने गीता के इस पद्य पर भाष्य करते हुए वाङ्मय का स्वरूप समझाने के उद्देश्य से एक उदाहरण प्रस्तुत किया है - **यद्वाक्यं यथा शान्तो भव वत्स स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यतीत्यादि तद्वाङ्मयं वाचिकं तपः शारीरवत्। स्वाध्यायाभ्यसनं च यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं तप उच्यते।** - इन भाष्यवचनों में भी वाङ्मय का आशय मनुष्य के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वाणी अर्थात् मुह से बोले जाने वाले वचन ही हैं।[७] गीता के एक अन्य भाष्यकार बलदेव भी वाणी से निवृत्त होने

---

[५] वाचिकं तप आह अनुद्वेगकरमिति। उद्वेगं भयं न करोतीत्यनुद्वेगकरं वाक्यम्। सत्यं श्रोतुः प्रियम्। हितं च परिणामे सुखकरम्। - श्रीधरः, गीताभाष्यम् । (१७.१५.) तत्रैव।

[६] तत्रैव।

[७] गीताभाष्यम् , आचार्य मधुसूदन, तत्रैव १७.१५

वाले अर्थात् वाक्व्यवहार को वाङ्मय बताते हैं।[८]

इसी प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता में ही एक और स्थान[९] पर चर्चा करते हुए गीता के भाष्यकारों ने इस समग्र वाङ्मय में अकार को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। इस स्वीकृति में भी वाङ्मय का आशय समग्र भाषिक व्यवहार प्रतीत होता है। (देखें - भाष्यकार आचार्य श्रीधर के ये वचन जो कि गीता के अक्षराणामिति – इस वचन को समझाते हुए कहे गये हैं - **अक्षराणां वर्णानां मध्ये अकारोऽस्मि। तस्य सर्ववाङ्मयत्वेन श्रेष्ठत्वात्।**)

वाङ्मय शब्द का तात्पर्यार्थ

कालान्तर में वाङ्मय शब्द से साहित्य को कहा जाने लगा। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में कहा है कि - **शास्त्रनिर्देशः इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात्काव्यानां पूर्वशास्त्रेष्वभिनिविशेत। तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयं च॥**[१०] इस वचन में आचार्य भरत वाङ्मय को दो प्रकार का बताते हैं। उसमें एक है शास्त्र तथा दूसरा है काव्य। पुनः वे काव्य नाम के वाङ्मय को अपौरुषेय तथा पौरुषेय के रूप में द्विविध बताते हैं। इस कथन का पर्यवसान भी अन्ततः समग्र साहित्य में होता है, अतः इस दृष्टि से देखने पर भी वाङ्मय शब्द को साहित्य का पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

आचार्य राजशेखर ने संस्कृत भाषा में पाँच वृत्तियाँ होने की बात

---

[८] अनुद्वेगकरमुद्वेगं भयं कस्यापि यन्न करोति। सत्यं प्रामाणिकम्। श्रोतुः प्रियम्। परिणामे हितं च। एतद्विशेषणचतुष्टयवद्वाक्यं तथा स्वाध्यायस्य वेदाभ्यसनं च वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्यं तपः॥ - तत्रैव॥

[९] अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ - श्रीमद्भगवद्गीता - १०.३३.

[१०] नाट्यशास्त्रम् अध्याय – २

कही है।[११] उनमें से जो सुब्वृत्ति है, उसे वे वाङ्मय की माता बताते हैं। यह सुब्वृत्ति मात्र साहित्य में ही नहीं, सामान्य जनमानस के भाषिक व्यवहार में भी प्रयुक्त होती है। अतः आचार्य राजशेखर का यह कथन वाङ्मय के अर्थ को अतिशय व्यापक बना देता है और वह समग्र संस्कृत भाषा का वाचक बन जाता है।

वाङ्मय शब्द का वैशिष्ट्य

वस्तुतः यह वाङ्मय शब्द सविशेष है। इस के अन्तर्गत समग्र साहित्य का समावेश हो जाता है। जैसे कि ओम् शब्द के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है, वैसे ही वाङ्मय के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। इतना ही नहीं उपनिषद्कार कहते हैं कि इस एक ओम् को जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है। ठीक इसी प्रकार यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वाङ्मय के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।

पर, प्रश्न है कि इस सब कुछ में क्या क्या हो सकता है? वागिन्द्रिय से व्यक्त होने वाली वाचिक पदावली में जो कहा जाता है, वह क्या मात्र वाणी का ही खेल है, या उसके पीछे कुछ और भी है? और यदि कुछ और है, तो वह क्या है? – इत्यादि अनेक प्रश्न जिज्ञासु के रूप में हमारे मन में होते हैं।

इन सम्भावित सभी प्रश्नों का उत्तर कौषीतकि (शांखायन) ब्राह्मण ने वाङ्मय के सुस्पष्ट स्वरूप को दर्शाते हुए दिया है। जो अपने आप में अद्भुत

---

[११] तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृत्तिः, तिङ्वृत्तिश्च। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति जातिवाचिनः शब्दाः। हरो हरिर्हिरण्यगर्भः काल आकाशं दिगिति द्रव्यवाचिनः। श्वेतः कृष्णो रक्तः पीत इति च गुणवाचिनः। पाचकः पाठक इति क्रियावाचिनः। प्रादयश्चादयश्च असत्त्ववचनाः। नगरमुप प्रस्थितः पन्थाः। वृक्षमनु द्योतते विद्युदिति कर्मप्रवचनीयाः। "सेयं सुब्वृत्तिः पञ्चतय्यपि वाङ्मयस्य माता" इति विद्वांसः॥ - काव्यमीमांसा,

है। वाङ्मय का यह स्वरूप व्यापक स्तर का होने के साथ ही, अर्थगांभीर्य वाला भी है। ब्राह्मणकार के वचन इस प्रकार हैं -

२.७ ये वैके चाऽऽनन्दा अन्ने पाने मिथुने राल्या एव ते संतता अव्यवच्छिन्नाः क्रियन्ते। तेषां रात्रिः कारोतरो य उ वैके चऽऽनन्दाः। अन्नादेव ते सर्वे जायन्ते। ते देवा अब्रुवन् कथंन्विमान्वयमानन्दानस्माद्दशस्यैव प्रतिगृह्णीयामेति। तेऽपामूर्ध्वं रसमुदौहन्। ता ओषधयश्च वनस्पतयश्च समभवन्नोषधीनां च वनस्पतीनां चोर्ध्वं रसमुदौहन्। तत्फलमभवत्। फलस्योर्ध्वं रसमुदौहन्। तदन्नमभवदन्नस्योर्ध्वं रसमुदौहन्। तद्रेतोऽभवत्। रेतस ऊर्ध्वं रसमुदौहन्। स पुरुषोऽभवत्। सोऽयं पुरुषो यः प्राणिति वाऽपानिति वा। न तत्प्राणेन नानापेनाऽऽहेति प्राणिषं वाऽपानिषं वेति। वाचैव तदाह। तत्प्राणापानौ वाचमपीतो वाङ्मयौ भवतः। अथ यच्चक्षुषा पश्यति। न तच्चक्षुषाऽऽहेत्यद्राक्षमिति वाचैव तदाह। तच्चक्षुर्वाचमप्येति वाङ्मयं भवति। अथ यच्श्रोत्रेण शृणोति न तच्छ्रोत्रेणाऽऽहेत्यश्रौषमिति। वाचैव तदाह। तच्छ्रोत्रं वाचमप्येति वाङ्मयं भवति। अथ यन्मनसा संकल्पयते। न(त)न्मनसाऽऽहेति समचीक्लृपमिति। वाचैव तदाह। तन्मनो वाचमप्येति वाङ्मयं भवत्यथ यदङ्गैः सुशीमं वा दुःशीमं वा स्पृशति। न तदङ्गैराहेति सुशीमं वा दुःशीमं वाऽस्प्राक्षमिति। वाचैव तदाह। तत्सर्व आत्मा वाचमप्येति वाङ्मयो भवति। तदेतदृचाऽभ्युदितं नेन्द्राहते पवते धाम किंचनेति। वाग्वा इन्द्रो न ह्यृते वाचः पवते धाम किंचन। स वै सायं जुहोति ॥७॥[१२]

---

[१२] द्रष्टव्य – कौषीतकिब्राह्मणम् (ऋग्वेदान्तर्गतं शांखायनब्राह्मणम्, संपादक – गुलाबराय वजेशंकर छाया, प्रकाशक – आनन्दाश्रममुद्रणालय, पुणे, महाराष्ट्र, सन् १९११, पृ. ५

इस गद्यखण्ड में जिस तथ्य को उजागर किया गया है, उसे सोपानशः इस प्रकार से विचारा जा सकता है।

(१) **वाङ्मय की पृष्ठभूमि** - कौषीतकि ब्रह्मणकार का मानना है कि मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले खान, पान तथा मिथुन में आनन्द की प्राप्ति होती है। यह आनन्द रात्रि से ही फैलते हैं और उसके पश्चात् वे अव्यवच्छिन्न अर्थात् बिना व्यवधान के प्राप्त होते रहते हैं।

इस आनन्द के विषय में रात्रि कारोतर अर्थात् छलनी रूप है। (अर्थात् रात्रि से छन करके आनन्द मानव जीवन का अंग – हिस्सा बनता है।)

(२) कुछ लोगों का मानना है कि इस प्रकार का जो भी आनन्द है, वह अन्न से उत्पन्न होता है। (अर्थात् मानवीय आनन्द का मूल अन्न है।)

(३) देवता लोगों का कहना है कि – इन आनन्दों को हमारे जैसे व्यक्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं? ऐसा विचार करके देवताओं ने अप् अर्थात् पानी के रस को ऊपर की ओर फेंका (ले गये)। इससे वह वाणी का रस ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ बन गया। अब इन ओषधियों को तथा वनस्पतियों को ऊपर की ओर फेंका गया। तब वे फल बन गये। अब इस फल के रस को उपर की ओर फेंका गया। अब यह रस अन्न बन गया। जब इस अन्न को भी ऊपर की ओर फेंका गया, तब वह रेतस् बना। इस रेतस् को ऊपर की ओर ले जाया गया, तब इससे पुरुष बना। यह जो पुरुष है, वह प्राणिति अर्थात् श्वास लेता है और अप्राणिति अर्थात् श्वास छोडता है।

(४) इस पुरुष की एक विशेष अवस्था है। वह यह कि यह पुरुष अपने द्वारा लिये जाने वाले प्राण के द्वारा या फिर अपान के द्वारा नहीं बोल सकता है कि मैं प्राणवान् हूँ या अपानवान् हूँ। यह कार्य तो वाणी से ही बोला जा सकता है।

इस स्थिति में वह प्राण तथा अपान वाणी की ओर गये तथा वाङ्मय बन गये। ब्राह्मणकार के कथन का सार यह है कि मनुष्य का प्राण तथा अपान वाङ्मय है।

(५) चर्चा को आगे बढाते हुए कहा गया है कि – **अथ यच्चक्षुषा पश्यति। न तच्चक्षुषा आह इत्यद्राक्षमिति। वाचैव तदाह। तच्चक्षुर्वाचमप्येति वाङ्मयं भवति।** अर्थात् मनुष्य जिसे आँख से देख रहा है, उसे वह आँखों से बोल नहीं सकता है[१३] कि मैंने यह देखा है। इसे तो वह वाणी से ही बोल सकता है। अतः जो देखने का कार्य करने वाले चक्षु हैं, वे वाणी की ओर जाते हैं और वाङ्मय बन जाते हैं। (तात्पर्य है कि आँख के द्वारा जो देखा गया है, वह सारा दृश्य भी वाङ्मय है।

(६) ठीक इसी प्रकार - **अथ यच्छ्रोत्रेण शृणोति। न तच्छ्रोत्रेणाहेत्यश्रौषमिति। वाचैव तदाह। तच्छ्रोत्रं वाचमप्येति वाङ्मयं भवति।**) अर्थात् मनुष्य जिसे कानों से सुन रहा है, उसे वह कान से नहीं बोल सकता है कि मैंने यह सुना है। इसे तो वाणी से ही बोल सकता है। अतः जो सुनने का कार्य करने वाला कान है, वह वाणी की ओर जाता है, और वाङ्मय बन जाता है। इस प्रकार से कान के द्वारा जो सुना गया है, वह भी वाङ्मय है।

(७) आगे कहा कि (**अथ यन्मनसा संकल्पयते। न तन्मनसाहेति समचीक्लृपमिति। वाचैव तदाह। तन्मनो वाचमप्येति वाङ्मयं भवति।**) अर्थात् मनुष्य के मन में जो संकल्प उठते हैं, उन्हें मन के द्वारा बोला नहीं जा सकता है कि मेरे मन में यह संकल्प उठा है। इसे तो वाणी से ही बोला

---

[१३] यद्यपि यह कहा जाता है कि आँखे भी देखती हैं। पर, आँखें जो बोलती हैं या बोल सकती उसे हम वाङ्मय नहीं कह सकते हैं।

जा सकता है। अतः संकल्प करने वाला जो मन है, वह वाणी की ओर जाता है और वाङ्मय बन जाता है।

(८) मन की बात करने के पश्चात् पुनः स्पर्शेन्द्रिय के विषय में कहा कि (**अथ यदङ्गैः सुशीमं वा दुःशीमं वा स्पृशति। न तदङ्गैराहेति सुशीमं वा दुःशीमं वास्प्राक्षमिति। वाचैव तदाह। तत्सर्व आत्मा वाचमप्येति वाङ्मयो भवति।**) अर्थात् मनुष्य अपने त्वक् के द्वारा विविध अंगों से जो सुशीम अर्थात् शीतल सा स्पर्श या दुःशीम अर्थात् कष्टदायक स्पर्श, जिस भी प्रकार का स्पर्श करता है, वह उस अंग से (अर्थात् त्वक् इन्द्रिय से) नहीं बोल सकता है कि मैंने यह स्पर्श किया है। इसे तो वह वाणी से ही बोल सकता है। अतः जो स्पर्शन का कार्य करने वाला त्वक् है, वह वाणी की ओर जाता है और वाङ्मय बन जाता है।

(९) (तदेतदृचाभ्युदितम्।) इस प्रकार से सम्पन्न होने वाली जो प्रक्रिया है, उसे ऋग्वेद के नवम मण्डल के ६९ वें सूक्त की छठी ऋचा के द्वारा कहा गया है । इस ऋचा की पदावली है - **नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन इति।**

(१०) इस ऋचा में जिस इन्द्र की बात है, वह इन्द्र वाक् ही है। (**वाग्वा इन्द्रः।**) क्योंकि वाक् के बिना किसी भी धाम को जाया नहीं जा सकता है, प्राप्त नहीं किया जा सकता है। (**न ह्यृते वाचः पवते धाम किञ्चन।**)

यहाँ पर जिस ऋचा का सन्दर्भ दिया गया है, वह ऋचा इस प्रकार से है -

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन॥ ऋग् ९.६९.६.

इस ऋचा का सायणाचार्य का किया हुआ भाष्य इस प्रकार से है – **सूर्यस्य रश्मयः सर्वस्य प्रेरकस्य सुवीर्यस्य वादित्यस्य रश्मयः सर्वतो व्यापकाः किरणा इव द्रावयित्नवः सर्वत्रद्रवणशीला मत्सरासो मदकराः प्रसुपः शत्रूणां प्रस्वापकाः हन्तार आशवो ग्रहेषु चमसेषु च व्याप्ताः सर्गासः सृज्यमानाः सोमास्ततं विस्तृतं तन्तुं तन्तुभिः कृतं वस्त्रं साकं सह युगपत् परीरते। परितो गच्छन्ति। ते सोमा इन्द्रादृत इन्द्रं वर्जयित्वान्यत्किं चन धाम देवशरीरं लक्षीकृत्य न पवते। न गच्छति। एकवचनं छान्दसम्। न गच्छन्ति। किन्विन्द्रस्यैव धाम प्रति गच्छन्ति। इन्द्रस्य धाम्नो यष्टव्यत्वं च अयाळिंद्रस्य प्रिया धामानि। वा. सं. २१ – ४७। इति मन्त्रादवगम्यते॥** - सायणाचार्यस्य भाष्यम्॥ - पृ. ७०५-६

इस मन्त्र में आचार्य सायण ने जिस भाव को देखा है उसमें इन्द्र अर्थात् सूर्य की किरणें सूर्य से निकल कर पृथ्वी पर आती हैं और इस दौरान जल में, स्थल में, वायु में तथा आकाशादि में जाती हैं। पर वे किरणें कहीं अन्यत्र न ठहर कर अन्ततः जाकर इन्द्र अर्थात् सूर्य की ओर ही चली जाती हैं, यह तथ्य छिपा हुआ है। बस इसी तरह से मानव के शरीर में स्थित विविध नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से तथा मन से जो ज्ञानरूप किरणें निकलती हैं, वे थोडी देर के लिये भले ही नाक, कान आदि की ओर जाती हों, पर अन्ततः तो वे वाक् अर्थात् वाणी की ओर ही चली आती हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जो स्थिति है, वही मानव शरीर में भी है।

इसे हम इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि मानव शरीर में वागिन्द्रिय के अतिरिक्त जितनी इन्द्रियाँ और मन आदि हैं, वे इधर उधर न जाकर अन्ततः तो वागिन्द्रिय की ओर ही आ जाते हैं। अर्थात् मानव को अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान उन-उन इन्द्रियों की

ओर न जाकर अन्ततः वाणी की ओर ही जाता है। वाणी इस ज्ञान को प्रकट करती है और वह ज्ञान वाङ्मय का रूप ले लेता है। कहने का आशय यह है कि वाङ्मय के निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से भले ही वागिन्द्रिय का कर्तृत्व हो, पर वास्तविकता यह है कि अन्न से लेकर मानव शरीर में विद्यमान सभी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा साथ में मन आदि भी अपना अपना कर्तृत्व निभाते हैं।

कौषीतकि ब्राह्मण ग्रन्थ के इन विचारों को व्यापकरूप से भी देखा जा सकता है। इसकी व्याप्ति एक ओर भाषा अर्थात् शब्दनिष्पत्ति (पदनिष्पत्ति) के सन्दर्भ में है, तो दूसरी ओर भावनात्मक संसार के सन्दर्भ में भी है । उदाहरण के रूप में पदनिष्पत्ति के सन्दर्भ में वाङ्मय की तरह ही हिरण्यमय, काष्ठमय, लौहमय, मन्मय आदि शब्दों (पदों) की निष्पत्ति भी होती है। निष्पत्ति की व्याकरण सम्मत प्रक्रिया में इन शब्दों का अर्थ - हिरण्यमय अर्थात् हिरण्य - सोने से बना हुआ, काष्ठमय अर्थात् काष्ठ लकडी से बना हुआ इत्यादि लिया जाता है। अब उपर्युक्त प्रकार से हिरण्यमय शब्द का अर्थ भले ही - सोने से बना हुआ पदार्थ – हो, और प्रत्यक्ष रूप में भले ही सोने का कारणत्व दिख रहा हो, पर वास्तविकता में तो हिरण्य से अतिरिक्त कई अन्य धातुओं का, साधनों का भी (हिरण्यमय वस्तु के निर्माण के प्रति) कारणत्व रहता ही है। इसी प्रकार से जो वस्तु काष्ठमय शब्द से वाच्य बनती है, उस के सन्दर्भ मे भी भले ही काष्ठ का प्रत्यक्ष रूप से कारणत्व दिखाई देता हो, पर वास्तविकता में तो काष्ठ के अतिरिक्त अन्य कई पदार्थों का भी परोक्ष रूप से थोडा बहुत कारणत्व रहता ही है।

इस स्थिति में जब जब किसी मयप्रत्ययान्त शब्द के सन्दर्भ में विचार किया जाय, तब तब उस में प्रत्यक्ष रूप से निर्दिष्ट वस्तु के साथ साथ

परोक्षतः उपयोग में ली गई, वस्तु के अस्तित्व को भी स्वीकार करना चाहिये। इस वास्तविकता का दर्शन मानव को करना चाहिये।[१४]

उधर ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में देखा जाय, तो ब्रह्माण्ड में भी जल अन्ततः जल की ओर, अग्नि अन्ततः अग्नि की ओर तथा मिट्टी अन्ततः मिट्टी की ओर गति करते दिखाई देते हैं, जिस प्रकार से सूर्य की किरण सूर्य की ओर जाती दिखाई देती है, उस प्रकार से॥

उपसंहार

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में यथावसर वाङ्मय शब्द का प्रयोग किया गया है और इस शब्द से अभिप्रेत अर्थ को भी कहीं कहीं उजागर करने का उपक्रम रहा है। इस उपक्रम में वाङ्मय का अर्थ प्रायः वाणी से प्रकट होने वाली पदावली अर्थात् साहित्य लिया जाता रहा है। इस अर्थ में प्रत्यक्षतः वाणी को दृष्टि समक्ष रख कर, पंचेन्द्रिय मानव के मात्र एकेन्द्रिय का (वागिन्द्रिय का) ही माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः वाणी तो उपरि सतह पर है, नीचे की सतह पर जो इतर ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य करके अपना योगदान दे रही हैं, उसे भी वाङ्मय की निष्पत्ति में कारण माना जाना चाहिये, इस बात की ओर यहाँ पर ध्यान आकर्षित किया गया है।

इतना ही नहीं इस वाङ्मय के मूल के रूप में अन्न को प्रस्थापित करने का ब्राह्मणकार का लक्ष्य रहा है। साथ ही वाङ्मय को (मात्र अल्पकालिक नहीं परन्तु सार्वकालिक) आनन्द के साथ संयुक्त करके देखने के लिये भी यहाँ आग्रह रखा गया है। इसी कारण प्रस्तुत चर्चा का प्रारम्भ करते हुए

---

[१४] इस वास्तविकता का अन्त अन्न पर आकर रुक सकता है । इस दृष्टि से मय प्रत्यय कर के हम जितनी भी पदावली सिद्ध करते हैं, उसमें प्रत्यक्षतः तत् तत् वस्तु कारणरूप होती है, पर परोक्षतः कारणरूप वस्तुओं में अन्ततः अन्न आ कर ठहर जाता है । जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण के उपर्युक्त गद्यखण्ड में वाङ्मय की विचारणा के प्रसंग में अन्न को मूल माना गया है।

कहा गया है कि - संसार में जितने भी आनन्द हैं, वे सभी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं।[१५] यदि वाङ्मय को भी एक प्रकार का आनन्द माना जाय, तो उसका मूल बीज भी अन्ततः अन्न ही ठहरता है।

इस प्रकार से शांखायन (कौषीतकि) ब्राह्मण के इस कथन में वाङ्मय का व्यापक तथा तलस्पर्शी स्वरूप प्रदर्शित किया गया है, जो अपने आप में अद्भुत तथा अनुपम है।

[१५] ये वै के च आनन्दा अन्ने पाने मिथुने। रात्र्या एव ते संतता अव्यवच्छिन्नाः क्रियन्ते। तेषाम् रात्रिः कारोतरः। य उ वै के च आनन्दाः। अन्नाद् एव ते सर्वे जायन्ते॥ - तत्रैव, पृ. ९

कौषीतकि (शांखायन) ब्राह्मण में दर्शपूर्णमास

प्रो० एल० के० गौड[१]

वेद-भाग के विषय को सूचित करने वाला 'ब्राह्मण' शब्द 'मेदिनी कोश' के अनुसार नपुंसक होता है। **ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्।** पाणिनिकृत अष्टाध्यायी[२], निरुक्त[३], शतपथब्राह्मण[४], ऐतरेय ब्राह्मण[५] के अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता में प्राचीनतम प्रयोग उपलब्ध होता है- **एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि।**[६]

ब्रह्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- यथा वेद में कहा गया मन्त्र '**ब्रह्म वै मन्त्रः**'।[७] 'ब्रह्म' शब्द का द्वितीय अर्थ यज्ञ है। व्यापकता की दृष्टि से यज्ञ 'ब्रह्म' तथा 'विज्ञान' भी कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या प्रस्तुत करना ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय

---

[१] **अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र वि०वि०, कुरुक्षेत्र**

[२] अष्टाध्यायी, ३/४/३६

[३] निरुक्त, ४/२७

[४] शतपथ ब्राह्मण, ४/६/९/२०

[५] ऐतरेय ब्राह्मण, ६/२५/८/२

[६] तैत्तिरीयसंहिता, ३/७/१/१

[७] शतपथ ब्राह्मण, ७/१/१/५

है। यज्ञ में आगत विरोधों का परिहार करना भी उक्त विषय के अन्तर्गत ही है। ब्राह्मण में विधि का प्राधान्य है। विधि-विधान युक्ति पूर्वक होता है। यह केवल कल्पना-प्रसूत न होकर युक्ति तथा तर्क की आधारशिला पर स्थित रहता है। इस दृष्टि से 'हेतु' का निर्देश करना भी ब्राह्मणों का उद्देश्य है। सर्वत्र अनुष्ठेय वस्तुओं की पुष्टि के लिये प्राचीन इतिहास और आख्यान उद्धृत किये गये हैं। वे अनुष्ठानों की प्रशंसा करके उनके प्रति याज्ञिकों की श्रद्धा में वृद्धि करने वाले होते हैं। निर्वचन या निरुक्ति भी इन्हीं विधियों में प्रयुक्त शब्द विशेषों की व्युत्पत्ति प्रदर्शनार्थ हैं। निरुक्तिजन्य अर्थ भी ब्राह्मणवाक्यों को समर्थन देते हैं। जैमिनि का कथन है कि वेद में विधिवाक्यों के अतिरिक्त उनसे भिन्न विषय के प्रतिपादन करने वाले वाक्यों की भी सत्ता है। ये वाक्य विध्यर्थक न होने से नितान्त व्यर्थ हैं - **आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्।**[८] सिद्धान्त पक्ष का मत है कि इन वाक्यों की भी उपादेयता है। ये स्वयं उपयोगी नहीं हैं अपितु विधियों की ही प्रशंसा में प्रयुक्त हैं। अस्तु, विधि द्वारा प्रतिपादित अर्थ के ही ये अवान्तर वाक्य समझे जाने चाहिए। इसलिये पारम्परिक रूप से इनका उपयोग विधि-विधान में अवश्य है- **विधिना तु एकवाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।**[९] शबरस्वामी ने ब्राह्मणों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का वर्णन निम्नवत् किया है-

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।[१०]

---

[८] जैमिनिसूत्र, १/२/१

[९] वही, १/२/२७

[१०] शाबरभाष्य, २/१/३३

'विधि' का अर्थ है यज्ञ एवं उसके अङ्गों तथा उपाङ्गों के अनुष्ठान का उपदेश। ताण्ड्य ब्राह्मण में अनेक विधियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा बहिष् पवमान के लिये अध्वर्यु तथा उद्गाता आदि पाँच ऋत्विजों के प्रसर्पण का विधान किया गया है। इसके साथ ही दो नियमों की पालना भी नितान्त आवश्यक होती है। ऋत्विजों को प्रसर्पण करते समय धीरे-धीरे पैर रखने का नियम है तथा मौन रहने का भी विधान है। पाँचों ऋत्विजों में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को एक दूसरे के पीछे इसी क्रम में पंक्ति बाँधकर चलने की व्यवस्था है। इस पंक्ति के टूट जाने पर अनेक हानि तथा अनर्थ की सम्भावना होती है। इस समय अध्वर्यु अपने हाथ में कुश लेकर चलता है।

शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ के काण्ड में दर्श और पौर्णमास इष्टियों के मुख्य तथा अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यागक्रम से किया गया है तथा द्वितीय काण्ड में आधान तथा पुनराधान, अग्निहोत्र तथा उपस्थान, आग्रायण यज्ञ का वर्णन विस्तारेण विहित है। विधि के साथ ही साथ हेतु का सयुक्तिक निर्देश भी किया गया है। आरम्भ की कण्डिका में ही सहेतुक विधि का निर्देश प्राप्त होता है। पौर्णमास यज्ञ में दीक्षित होने वाला व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्व की ओर खडा होकर जल का स्पर्श करता है, क्योंकि जल मेध्य होता है अर्थात् यज्ञ के लिये उपयोगी पदार्थ होता है। असत्य भाषण करने वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिये उपयुक्त नहीं होता। अतः जल के स्पर्श से व्यक्ति पवित्र होकर दीक्षित होता है। इसी दृष्टि से जल का स्पर्श करता है- **अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूरितन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति।**

पवित्रं वा आपः। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति।[११]
प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठित होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'दर्शपौर्णमास' पडा। प्रकृतिरूप में होने के कारण इसी यज्ञ का पहले विधान हुआ है। प्रकृति से तात्पर्य यहाँ उस याग से है, जो अनुष्ठान के समय अन्य यागों की अपेक्षा न रखता हो। दर्शपौर्णमास में अन्य किसी याग की विधि प्रयुक्त नहीं होती, परन्तु अन्य याग दर्शपौर्णमास विधि से उपकृत होते हैं, अतएव यजुर्वेद में पहले इसी याग के मन्त्रों का विधान है।

शाङ्खायन ब्राह्मण में उल्लेख है कि अमावास्या और पौर्णमासी को उपवास किया जाता है क्योंकि अव्रत के हवि को देवता नहीं खाते। अतः देवता मेरे हवि को खायें, इस कामना से व्रत करना है। पैङ्ग्य का मत है कि पूर्णिमा के प्रथम दिन पूर्व व्यापिनी में उपवास करे, किन्तु कौषीतकि का मत है कि नियमतः दूसरे दिन सूर्यास्त के समय जब पूर्ण चन्द्र दिखाई दे, उस दिन करे। अतः द्वितीय पूर्णिमा को व्रत करे। जो अमावस्या को चन्द्र को पूर्व में बिना देखे उपवास करता है इससे वह प्रथम दर्श को प्रसन्न करता है। इसमें वह यज्ञ करता है। इससे दूसरे को अर्थात् उत्तर द्वितीय को उपवास करे क्योंकि द्वितीयों को ही समुद्र अपने देवता चन्द्र के अनुसार प्रफुल्लित (ज्वारयुक्त) होता है। चन्द्रमा देवताओं के सत्य हैं। अतः वह दूसरे दिन उपवास करे- **यद्दर्शपूर्णमासयोरुपवसति न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति तस्मादुपवसत्युत मे देवा हविरश्नीयुरिति पूर्वां पौर्णमासीमुपवसेदिति पैङ्ग्यमुत्तरामिति कौषीतकं यां पर्यस्तमयमुत्सर्पेदिति सा स्थितिरुत्तरां पौर्णमासीमुपवसेदनिर्ज्ञाय पुरस्तादमावास्यायां चन्द्रमसं यदुपवसति तेन पूर्वां प्रीणाति यद्यजते**

[११] शतपथ ब्राह्मण, १/१/११

तेनोत्तरामुत्तरामुवसेदुत्तरामु ह वै समुद्रो विजते सोममुदैवतमेतद्वै देवसत्यं तच्चन्द्रमास्तस्मादुत्तरामुपवसेत्।[१२] और जो सामिधेनी के पूर्व जप करता है वह स्वस्त्ययन (मंगल वाचन) करता है, हिंकार करके सामिधेनी को दोहराता है। 'हिं'कार ध्वनि वज्र है। निश्चय ही वह वज्र से यजमान के पाप को नष्ट करता है। तीन 'हिंकार' तिहरे वज्र हैं। इससे वह वज्र का सम्पादन करता है। इस त्रिवृत् वज्र से देवों ने असुरों को इन लोकों से दूर किया और निश्चय ही यजमान इस त्रिवृत् वज्र से द्वेष कर रहे भ्रातृव्यों (असुरों/शत्रुओं) को इन लोकों से दूर करता है। वह ग्यारह सामधेनी (मन्त्रों) का पाठ करता है। त्रिष्टुप् में ग्यारह अक्षर हैं। इन्द्र त्रिष्टुप् से सम्बद्ध हैं- हे इन्द्र जबकि तूने इस स्तोता के सम्मुख स्तोत्र के बल से इस शत्रु के बल को हिला दिया, तो तूने सबसे पहले बड़ा पराक्रम किया। इस कारण नाश करने वाले, तुम रथ पर बैठे हुये लाल घोडों वाले इन्द्र से, नीचे गिराये हुये असुर एक साथ मिले हुये भी भय से पृथक्-पृथक् भागते हैं-

अधाकृणोः प्रथमं वीर्यं महद् यदस्याग्रे ब्रह्मणा शुष्ममैरयः।
रथष्ठेन हर्यश्वेन विच्युताः प्र जीरयः सिस्रते सध्यक् पृथक्॥[१३]

इस प्रकार वह इन्द्र और अग्नि दोनों को प्राप्त करता है। वह प्रथम को तीन बार और अन्तिम को तीन बार पढता है। अतः वे पन्द्रह होती हैं। मास के प्रथम और द्वितीय पक्षों के दिन पन्द्रह हैं। वह मास के दोनों पक्षों को प्राप्त करता है और सामिधेनी मन्त्र वज्र है। वज्र पन्द्रह पर्वों वाला है। अतः वज्र से यजमान के पाप को दूर करता है। इसके अतिरिक्त जो तीन बार प्रथम और तीन बार अन्त में जप करता है उससे यज्ञ के ही दोनों छोरों को स्थिरता के लिये बद्ध करता है, जिससे वे भ्रष्ट न हों। इन मन्त्रों में तीन

---

[१२] शाङ्खायन ब्राह्मण, ३/१

[१३] ऋग्वेद, २/१७/३

सौ साठ अक्षर हैं। वर्ष में तीन सौ साठ दिन हैं। अतः सामिधेनी से वर्ष के दिनों को प्राप्त करता है। वे गायत्री मन्त्र हैं। इस प्रकार निश्चय ही अग्नि की उनके छन्द के द्वारा स्तुति करता है।

हे यजमानों द्वारा आहुत अग्ने ! तू भलीभाँति प्रदीप्त होकर इन्द्र देवों का यजन कर। क्योंकि तू निश्चय ही हव्य को वहन करने वाला है-

ओम् समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि।[१४]

वह यजमान के आर्षेय (ऋषि परम्परा) को कहता है। ऋषिमूल से रहित के हवि को देवता नहीं खाते। इससे यजमान के ऋषि से उसकी परम्परा को कहता है। अनन्तर वह पन्द्रह तत्त्वों के निगद अर्थात् कथन को संयुक्त करता है। यह सामिधेनी के मन्त्रों का निविद है।[१५] इससे इसमें पन्द्रह तत्त्व हैं। क्योंकि सामिधेनी मन्त्र पन्द्रह हैं। यह छन्दस्कृत होता है। यह सभी दुहरा छन्दस्कृत और अच्छन्दस्कृत होता है। यह कहता है कि इन सभी से मैं अग्नि की स्तुति करूँ। सप्त तत्त्वों अर्थात् पदों को समन्वित करके रुके। छन्द सात हैं। इससे सभी छन्दों की प्राप्ति होती है। इसके बाद चार-चार आते हैं। यह सभी चतुष्टय है। निश्चय ही इनसे सभी की प्राप्ति होती है- **'अथ चत्वार्यथ चत्वारि चतुष्टयं वा इदं सर्वमस्यैव सर्वस्याप्त्यै'॥**[१६]

---

[१४] वही, ५/२८/५

[१५] कौषीतकि आरण्यक, १४/१

[१६] शांखायन ब्राह्मण, ३/२

शांखायन ब्राह्मण में निरूपित ऋतुएँ

डा० अमरनाथ सिंह[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋतुओं का बड़ा ही सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋतुओं की संख्या निश्चित नहीं है। शांखायन ब्राह्मण में कहीं छः, कही पाँच और कहीं तीन ऋतुओं का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में कहीं छः, कहीं पाँच, कहीं तीन और कहीं सात ऋतुओं का उल्लेख हुआ है।

षड्-ऋतु- शाखायन एवं शतपथ दोनों ब्राह्मणों में सम्पूर्ण संवत्सर (वर्ष) को छः ऋतुओं में विभक्त किया गया है।[2] सायण ने शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर अपने भाष्य में षड्- ऋतुओं के समुदाय को संवत्सर कहा है।[3] इन ऋतुओं को क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त एवं शिशिर संज्ञा से सुशोभित किया गया है।[4] दो महीने का एक ऋतु माना गया है।[5]

---

[1] **उपाचार्य, संस्कृत विभाग, चौ०च०वि०वि०, मेरठ**

[2] षड् ऋतवः। शाङ्खायन ३ / ४ / ५ / ६ / १४ / ५ । शत. ब्रा. १, २, ३, १२, २, १, १, १, १३, २, २, १, २६, ३, ३, ५, १८, ३, ५, ३, १९, ४, १, १, ३, ४, ४, १, १८, ७, २, ३, ३६, ८, २, ४, २, ९, ३, ५, ८ इत्यादि।

[3] षड् ऋतुसमुदायात्मको यः संवत्सरः । शतपथ ब्रा० १, २, ३, १२ सायणभाष्य समेत।

[4] शाङ्खायन ३, ४। वसन्तो, ग्रीष्मो, वर्षाः ते देवाः ऋतवः शरद्हेमन्तशिशिरः ते पितरः। शत. ब्रा २, १, ३, १

[5] द्वन्द्वं समस्ताः ऋतवः। शां. ब्रा० १४, ५, द्वौ हि मासावृतु। शत. ब्रा० ७, ३, २, ३०।

इसी तरह ऐतरेय एवं गोपथ ब्राह्मण में भी दो महीने का एक ऋतु बतलाया गया है।[६] इस प्रकार छः ऋतुओं में १२ मास होते हैं और १२ मास मिलाकर एक संवत्सर बतलाया गया है।[७] कहीं-कहीं संवत्सर में १३ मास बतलाए गए हैं।[८] शांखायन ब्राह्मण में तेरहवें मास को पूरक कहा गया है।[९] प्रस्तुत ब्राह्मण में वर्ष (संवत्सर) में ३६० दिन तथा ७२० दिन- रात बतलाऐ गये हैं।[१०] शांखायन ब्राह्मण में एक स्थान पर उल्लिखित है कि सूर्य छः मास उत्तरायण तथा छः मास दक्षिणायन में रहता है।[११]

पञ्च-ऋतु- शांखायन ब्राह्मण में संवत्सर में पाँच ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है।[१२] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में संवत्सर में भी अनेकशः पाँच ऋतुएँ स्वीकार की गई हैं।[१३] जहाँ पाँच ऋतुएँ स्वीकार की गई हैं, वहाँ हेमन्त और शिशिर इन दोनों को मिलाकर एक ही ऋतु मान लिया गया है इसीलिये बहुत से स्थलों पर हेमन्त और शिशिर को समान बताकर उन्हें एकीकृत कर लिया गया है।[१४] इस स्थिति में हेमन्त में शिशिर का अन्तर्भाव मान लिया गया है। इस प्रकार हेमन्त और शिशिर को एक ही मानकर संवत्सर में पाँच ऋतुएँ स्वीकार की गई हैं। शतपथ ब्राह्मण के

---

[६] ऐत. ब्रा० ४, १९, ४ । एकैकस्य ऋतोः द्वौ द्वौ मासौ भवतः। गोपथ ब्रा०, उत्तर भाग ६, ६।

[७] द्वादश वै मासाः संवत्सरे। शाङ्खायन ब्रा० ७, १०, ९, ४, १४, ५, ८, १ ।

[८] संवत्सर यदेष त्रयोदशः मासः। शांखायन ब्रा० ५, ८, २५, ११ ।

[९] त्रयोदशो मास उपचरः (पूरकः)। शांखायन ब्रा० ७, १० ।

[१०] त्रीणि वै षष्टिशतानि संवत्सरस्याह्नाम्। शांखायन ब्रा० ११, ७ ।

[११] शांखायन १९, ३ ।

[१२] द्वादश वै मासाः। पञ्च ऋतवः। शांखायन १४, ५ ।

[१३] शत. ब्रा० १, ३, २, ११, २, १, १, १२, ३, ७, ५, ११, ६, १, २, १८, ९, ३, ४, २४ आदि।

[१४] शतपथ ब्रा० १, ३, २, ११ । ऐतरेय ब्रा० १, १, १, आदि।

त्रयोदश काण्ड में वर्षा और शरद् को एक ऋतु मानकर ऋतुओं की संख्या पाँच बतलाई गई है।[१५] यहाँ पर हेमन्त में शिशिर का अन्तर्भाव नहीं किया गया है।

सप्त-ऋतु- कहीं संवत्सर में सात ऋतुओं की कल्पना की गई है।[१६] जहाँ सात ऋतुओं का उल्लेख है, वहाँ सातवाँ ऋतु अधिमास (मलमास) का द्योतक माना गया है। इस प्रकार मलमास को अतिरिक्त ऋतु मानकर ऋतुओं की संख्या सात स्वीकार कर ली गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि संवत्सर का तेरहवाँ मास ही अधिमास (मलमास) में स्वीकार कर लिया गया है।[१७]

तीन-ऋतु- कहीं-कहीं संवत्सर में तीन ऋतुएँ भी बताई गई हैं। यहाँ पर एक ऋतु में १२० दिन बताए गए हैं।[१८] एक सौ बीस दिन का एक ऋतु बताकर संवत्सर में तीन ही ऋतुएँ स्वीकार की गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी संवत्सर को अनेकशः तीन ऋतुओं में विभाजित किया गया है। जहाँ तीन ऋतुओं का वर्णन आया है, वहाँ संवत्सर में ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतु का उल्लेख हुआ है।[१९]

दो ऋतु- अनेक स्थानों पर संवत्सर को शीत और ग्रीष्म ऋतु के रूप में विभक्त किया गया है।[२०] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि वर्षा और ग्रीष्म

---

[१५] शतपथ ब्रा० १३, ६, १, १०, ११ ।

[१६] सप्त ऋतवः संवत्सरः। शत. ब्रा० ६, ४, ३, १४, ७, २, ४, ९, ८, २, ४, २५, ९, ४, ३, ८ आदि ।

[१७] शांखायन ब्रा० ५, ८, २५, ११ ।

[१८] शांखायन ब्रा० ११, ७ ।

[१९] शतपथ ब्रा० ३, ४, ४, १७, १४, १, १, २८ आदि। गोपथ ब्रा०, पूर्व भाग ५, ५ ।

[२०] अन्यानि शीतानि अन्यानि उष्णानि, गोपथ ब्राह्मण, उत्तर भाग ६, ६ ।

को एक ही ऋतु मानकर ग्रीष्म ऋतु में वर्षा ऋतु का अन्तर्भाव कर लिया गया है, क्योंकि वर्षा ग्रीष्म-ऋतु में ही होती है।

इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऋतुओं का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। शांखायन ब्राह्मण में ऋतुओं का उल्लेख संक्षिप्त रूप में तथा शतपथ ब्राह्मण में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है।

कौषीतकि ब्राह्मण में सृष्टिविज्ञान

डा० जयप्रकाश नारायण[१]

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मुख्यतः अनेक प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठानों के विवेचन के साथ-साथ वेदमन्त्रों और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति भी बताई गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थों को यज्ञीय विधान एवं आध्यात्मिक विवेचना करने वाले कोशग्रन्थ कह सकते हैं। इस कथन की पुष्टि पण्डित विद्याधर शर्मा गौड ने भी की है-

'वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्मविधायको नाना विधानादीतिहासाख्यानको ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभागः।[२] ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं- १. ऐतरेयब्राह्मण और २. कौषीतकि ब्राह्मण। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं जिन्हें ८ पंचकों में बाँटा गया है। कौषीतकि ब्राह्मण में ३० अध्याय हैं। आरम्भ के छः अध्यायों में क्रमशः अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, विकृतीष्टि, चातुर्मास्य एवं ब्रह्मतत्त्व पर विचार किया गया है। शेष अध्यायों में विस्तार से सोमयाग का वर्णन हुआ है।

---

१ उपाचार्य, संस्कृत विभाग, जा०मि०इ०वि०वि०, नई दिल्ली

[२] शतपथ ब्राह्मणः भूमिका, पृष्ठ १, काशी, वि० सं० ९९४।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कौषीतकि ब्राह्मण की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि इसके वर्ण्य-विषयों में विशदता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता पाई जाती है।

शांखायन का ही अपर अभिधान कौषीतकि ब्राह्मण है। ऋग्वेद से सम्बद्ध शांखायन और कौषीतकि- दो पृथक् शाखाएँ हैं। यह शाखा भेदजन्य या पाठान्तरजन्य हो सकता है किन्तु वर्तमान में एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों नामों से अभिहित है।[३] ब्राह्मण ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में सृष्टि-उत्पत्ति, ईश्वर, जीव, प्रकृति, वाक्, मन, पुनर्जन्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है।

सृष्टिविषयक जिज्ञासा- सृष्टि का निर्माण कब हुआ? किसने किया? क्यों किया? किस प्रकार किया? यह जिज्ञासा मानव-मन में मनन की धारा के साथ प्रस्फुटित हुई थी और आज भी जिज्ञासाओं को उद्वेलित कर रही है। **'को अद्धा वेद? क इह प्रवोचत' कुतो अजायत कुत इयं विसृष्टिः?**[४] **तथा किं सविदवनं को उ स वृक्ष आ यतो द्यावापृथिवी निष्ठ तक्षुः।**[५] ऋग्वेद के ऋषि की उपर्युक्त जिज्ञासा से सृष्टिविषयक जिज्ञासा की शाश्वतता में कोई संदेह नहीं रह जाता। इस जिज्ञासा के समाधान का प्रयत्न भी उतना ही प्राचीन है जितनी यह जिज्ञासा।

वैदिक संहिताओं में प्रजापति (परमेश्वर) को ही इस सृष्टि का निर्माता तथा रहस्यज्ञाता माना गया है- **इयं विसृष्टिर्यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनत्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥**[६]

---

[३] शांखायन ब्राह्मण, भूमिका भाग, हिन्दी अनुवाद, पृ० सं० १९, वाराणसी।

[४] ऋ० १/१२९/६।

[५] वही, १/८१/४।

[६] ऋ०, १०/१२९/७।

सृष्टि के मूलकारण - ऋग्वेद के अनुसार इस व्यक्त सृष्टि से पूर्व इस प्रकार का कोई तत्त्व नहीं था जिसे '**इदमित्थम्**' (यह इस नाम वाला है) कह सकते। सर्वत्र गहन अन्धकार तथा अज्ञेय कलिल था (सबको लीन किये हुये मूल प्रकृति थी)।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वम् इदम्।[७]

इस प्रकार व्यक्त सृष्टि से पूर्व दो (परमतत्त्व एवं मूलप्रकृति) तत्त्वों की सत्ता थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी कहते हैं - 'जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी।[८] प्रजापति को हिरण्यगर्भ, विराट् और पुरुष भी कहा गया है-

प्रजापतिर्वा हिरण्यगर्भः।[९]
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।[१०]
प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस।[११]

मूलप्रकृति- इसे असत् भी कहा गया है-

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किं च नास।[१२]

प्रजापति ने अव्यक्त मूल प्रकृति (असत्) से यह व्यक्त सृष्टि की।

---

[७] वही, १०/१२९/१-३ ।
[८] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्या विषय, स्वामी दयानन्द ।
[९] तै० सं०, ५/५/१/२ ।
[१०] ऋ०, १०/१२१/१ ।
[११] ऐतरेय ब्राह्मण १०/२ ।
[१२] ऋ० १०/२९/२ ।

इसी कारण वह 'विश्वकर्मा' कहलाया- **'प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्मा अभवत्**।[१३] कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि की कामना से तप करके अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और उषा को उत्पन्न किया। प्रजापति ने इन देवों से भी तप करने को कहा। जब ये देव तप कर रहे थे। तब उषा अप्सरा का रूप धारण करके आयी तो उस पर देवों का मन आसक्त हो गया। देवों ने उषा में रेतस् को हिरण्यचमस् में एकत्रित कर लिया। उससे सहस्र आँखों वाला और सहस्र पैरों वाला देव उत्पन्न हुआ-

'प्रजापति प्रजापतिकामस्तपोऽतप्यत्'।[१४]

यहाँ उषा एक पारिभाषिक शब्द है जो उस अवस्था का द्योतक है जब प्रजापति के मन में सृष्टि की कामनारूप प्रकाश का बिन्दु उत्पन्न हुआ।

ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि की कामना के समय सृष्टि के कारणों की रश्मियाँ फैल गयीं। यही ज्योति तत्त्व या रश्मि तत्त्व उषा है और रेतस् कामना तत्त्व है।

हिरण्यचमस् से उत्पन्न 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' देव आलंकारिक रूप से प्रजापति को ही द्योतित करते हैं। यजुर्वेद में प्रजापति को ही 'सहस्रशीर्षा' और 'सहस्राक्ष' कहा गया है- **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्.........।**[१५]

अर्थात् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त रूप में मूल प्रकृति और प्रजापति (परमेश्वर) की सत्ता थी। प्रजापति ने सृष्टि की कामना की, जो प्रथम बीज (मनसः रेतस्) हुआ । इससे सृष्टि प्रक्रिया शुरु हुई।

---

[१३] ऐतरेय ब्राह्मण १८/८ ।

[१४] कौषीतकि ब्राह्मण ६/१/६/१० ।

[१५] शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता ३१/१।

सृष्टि-प्रक्रिया में यज्ञ संस्था का योगदान- प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं। सृष्टि प्रक्रिया शुरू होती हैं। सृष्टि संवर्धन की यह प्रक्रिया एक प्रकार का यज्ञ ही है। सृष्टि हेतु प्रजापति द्वारा किया गया तप भी एक प्रकार का यज्ञ है। वे स्वयं भी यज्ञरूप हो गये थे ....।[१६] **एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते**।[१७]

सृष्टि का मूलाधार यज्ञ ही है। **यज्ञाद्वै प्रजा ......अन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजा प्रजायन्ते।**[१८] कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि यज्ञ का निर्माण किया। उसने अग्न्याधेय से रेतस् को उत्पन्न किया। अग्निहोत्र से देवताओं, मनुष्यों और असुरों को, दर्शपूर्णमास से इन्द्र को, यज्ञों से अन्न-पान को, आग्रायण यज्ञ से अन्न को उत्पन्न किया। इनके अतिरिक्त जिन-जिन वस्तुओं की कामना की, उन सबको यज्ञों से ही प्राप्त किया- **'प्रजापतिर्ह यज्ञं ससृजे साऽग्न्याधेयेनैव रेतोऽसृजत। देवान् मनुष्यानसुरानिति अग्निहोत्रेण। दर्शपूर्णमासाभ्यामिन्द्रमसृजत। तेभ्य एतदन्नपानं ससर्ज......अथो यं यं काममैच्छस्तं एतैरयनैरापुः। अन्नाद्यमाग्रायणेन।**[१९]

पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की सृष्टि- प्रजापति के सृष्टि सम्बन्धी ईक्षण से सर्वप्रथम पृथ्वीलोक की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक की उत्पत्ति हुई।[२०] तत्पश्चात् अन्य पदार्थों की सृष्टि प्रजापति ने की।[२१]

---

[१६] कौषीतकि ब्राह्मण, १०/१/१३/१, ऐतरेय ब्राह्मण १९/४।

[१७] शतपथ ब्राह्मण, ४/२/४/१६।

[१८] वही, १/९/१/५।

[१९] कौषीतकि ब्राह्मण, ६/१५।

[२०] ऐतरेय ब्राह्मण, २५/२।

[२१] वही, २२/२।

वेद, व्याहृति एवं ओंकार सृष्टि - प्रजापति ने पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु, द्युलोक से आदित्य की सृष्टि की। इसके बाद अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद की सृष्टि हुई। इन तीन वेदों में ऋग्वेद से 'भूः', यजुर्वेद से 'भुवः', सामवेद से 'स्वः' व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। इन तीन व्याहृतियों से क्रमशः 'अ', 'उ', 'म्'- ये तीन वर्ण उत्पन्न हुये। प्रजापति ने इन तीन वर्णों का संयोग किया तथा 'ओम्' (प्रणव) की उत्पत्ति हुई।[२२]

	सृष्टि	वेद	व्याहृति	वर्ण
पृथ्वी-	अग्नि	ऋग्वेद	भूः	अ
अन्तरिक्ष	वायु	यजुर्वेद	भुवः	उ
द्युलोक	आदित्य	सामवेद	स्वः	म्

पृथ्वी से सम्बन्धित सृष्टि- ऐतरेय ब्राह्मण में पृथ्वी से अग्नि की उत्पत्ति सर्वप्रथम बताई गई है।[२३] प्रजापति ने सृष्टि की कामना से तप करके पृथ्वीलोक का संवर्धन प्राणों से किया- **'प्रजापतिस्तपोऽतप्यत स तपस्तप्त वा प्राणादेव मम लोकं प्रावृहद्.........।**[२४]

मैथुनी सृष्टि- तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मैथुनी सृष्टि का आधार भी प्रजापति को ही माना गया है। प्रजापति ने सृष्टि की कामना से तप तपा तथा स्वयं ही प्रजनेन्द्रियों से जीवधारी प्रजाओं की सृष्टि की।[२५] यज्ञ में प्रयुक्त अग्नि को पुरुष तथा सोम को स्त्री का प्रतीक माना गया है। ऐतरेय

---

[२२] ऐत० ब्रा०, २५/७,। तै० ब्रा०, २/२४/१। शतपथ ब्राह्मण, २/१/४/११।

[२३] ऐत० ब्रा०, २५/७।

[२४] कौ० ब्रा०, ६/१०।

[२५] तै० ब्रा०, २/२/९/७।

ब्राह्मण में पुरुष और स्त्री के मिथुनीभाव का स्पष्ट उल्लेख है।[२६] यज्ञों के अवसर पर भी प्रजा उत्पत्ति के लिये मिथुनप्रक्रिया की चर्चा अनेकशः हुई है।[२७]

अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से सम्बन्धित सृष्टि- प्रजापति ने पृथ्वी के सृजन के बाद अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की सृष्टि की। कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है, यह सारा विश्व चतुर्वृत्त है- **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'**।[२८]

निष्कर्ष- ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित सृष्टिविज्ञान के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रजापति एवं मूलप्रकृति द्वारा व्यक्ताव्यक्त सृष्टि की रचना की गई, यथा- अग्नि, वायु, चन्द्रमा, आदित्य, इन्द्र, उषा, देवता, मनुष्य, अन्न-पानादि, पृथ्वी, द्युलोक, अन्तरिक्ष, वेद व्याहृतियाँ एवं ओंकार इत्यादि की सृष्टि प्रजापति द्वारा की गई। सृष्टि प्रक्रिया में यज्ञ की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सृष्टि प्रक्रिया की विवेचना के प्रसङ्ग में मैथुनीसृष्टि का विवेचन कौषीतकि ब्राह्मण में प्राप्त नहीं होता है।

---

[२६] ऐतरेय ब्राह्मण, १०/३।

[२७] कौषीतकि ब्राह्मण, ३/९।

[२८] वही, २/१ ।

कौषीतकि ब्राह्मण में पशु विज्ञान

डा० देवीसिंह[१]

प्राचीनकाल से वेद ज्ञान का आदि एवं अनन्त स्रोत रहा है क्योंकि इनमें धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि से सम्बन्धित ज्ञान-निधि विद्यमान है। निःसन्देह ऋग्वेद वैदिक-साहित्य का सर्वोपरि ग्रन्थ है किन्तु ऋग्वैदिक ज्ञान की विस्तृत व्याख्या उसके दो ब्राह्मण ग्रन्थों ऐतरेय एवं कौषीतकि में की गई है। कौषीतकि ब्राह्मण में की गई गद्यात्मक व्याख्या उत्कृष्ट एवं विविधज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण है। कौषीतकि ब्राह्मण को शांखायन ब्राह्मण भी कहा गया है, जो ऋग्वेद की वाष्कल शाखा से सम्बन्धित है। यह ३० अध्यायों तथा २२६ खण्डों में विभाजित है। इसमें मानवीय जीवन से सम्बन्धित आचार प्रणाली के नियम एवं निर्देश दिये गये हैं। इसमें सोमयागों के अतिरिक्त इष्टियों और पशुयागों का भी प्रतिपादन किया गया है क्योंकि प्रकृति तथा मनुष्य का सदैव अटूट सम्बन्ध रहा है। प्राकृतिक रूप से मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति जहाँ वनस्पति से होती है, वहीं पशुजगत् भी मानव-जीवन से जुडा हुआ है। पशुओं को पञ्चविध

---

[१] **उपाचार्य, संस्कृत विभाग, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म महाविद्यालय, से० ३२, चण्डीगढ**

कहा गया है-[2] अश्व, गो, अवि, अज तथा मनुष्य ।

पशु शब्द का निर्वचन शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार उपलब्ध होता हैं- **'सः एतान् पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम् यदपश्यत्तस्मादेते पशवः**[3] अर्थात् प्रजापति ने इन्हें देखा और इन्होंने प्रजापति को स्वयं में देखा, इसलिये इनको पशु विशेषण दिया गया है।

कौषीतकि ब्राह्मण में ऐसे उद्धरण मिलते हैं जो पुरुष को पशुओं से पृथक् दर्शाते हैं, जैसे- "**वै पशून्पुरुषस्तिष्ठति**"[4] अर्थात् पुरुष पशुओं के ऊपर स्थित है, पुरुष ही पशुओं का स्वामी है। ग्राम्य तथा आरण्यक पशुओं का उल्लेख भी पुरुष तथा पशुओं में अन्तर बताता है-

"देवचक्रं वा एतत्परिप्लवं यत्संवत्सरस्तदमृतत्वं तस्मिन्नेतत्षट्तयमन्नाद्यं ग्राम्यश्च पशव आरण्याश्च।[5]

शांखायन में पशुओं को चतुर्विध तथा चतुष्पाद् कहा गया है- "**षड्वा ऋतवः संवत्सरः संवत्सरस्यैवाऽप्त्यै चतुराहवानि शस्त्राणि पशवो वा उक्तानि चतुष्ट्या वै पशवोऽथो चतुष्पादाः पशूनामेव" ।**[6] इसके अतिरिक्त मानव तथा पशुओं में बोलने की कला को लेकर बहुत बड़ा अन्तर है, जो दोनों में भिन्नता दर्शाता है-"**महानस्याः सर्वा वाचो वदति तस्मात्पुरुषः सर्वा वाचो वदत्येकैकामितरे पशवास्ता वा" ।**[7]

शांखायन में पशु को अन्न तथा इळा की संज्ञा प्रदान की गई है "**अन्न**

---

[2] तै० ब्रा,३,५,४,३

[3] शतपथ ब्राह्मण,६,२,१,२

[4] शा० ब्रा०,२६,१७

[5] वही,२०,१

[6] वही,३०,१०

[7] वही,३०,७

पशव इळाऽन्नेन वै"[८], **"न प्राश्नन्ति पशवो वा इळा"**।[९] पशु मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इनका प्रयोग क्रय-विक्रय के लिये भी किया जाता था- **"तं वे चतुर्भिर्क्रीणाति गवा चन्द्रेण वस्त्रेण"**।[१०]

"अन्नं पशवः" अर्थात् अन्न ही पशु है । इस वाक्य से स्पष्ट है कि पशुओं से दूध, दधि आदि अदनीय पदार्थ प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी एकशफ तथा द्विशफ वाले पशुओं की चर्चा है- **" एकशफो वाऽएष पशु यदश्वः"**।[११] पशुपालन करने वाले लोग गाय, भेड, बकरी, रासभ इत्यादि पालते थे तथा उनकी प्राप्ति की कामना हेतु यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों का भी आयोजन करते थे-

स एष पशुकामस्यान्नाद्यकामस्य यज्ञस्तेन पशुकामोऽन्नाद्यकामो यजेत"।[१२]

शांखायन ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर उपलब्ध उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय में पशुओं का महत्त्व इतना अधिक बढ गया था कि उनको हविष्यपंक्ति, छन्दोमा, उक्थ, इडा इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता था-

"अथ हविष्यपंक्त्या चरन्ति पशवो वै हविष्पक्ति पशूनामेवाप्त्यै"।[१३]

---

[८] वही,१३,६

[९] वही,५,७

[१०] वही,७,१०

[११] शतपथ ब्राह्मण, ७.५.२.३३

[१२] श०ब्रा०,१२.२

[१३] वही,२६.९.२९.८

"पशवो वै छन्दोमा" ।[१४]

"पशवो वै इडा" ।[१५]

इस काल में पशुओं की सुरक्षा के लिये भव, शर्व आदि देवताओं से प्रार्थना की जाती थी जिससे कोई उन्हें हानि न पहुंचाऐं-

(१)"यद् भव आपस्तेन ह वा एनं न भवो हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशून्नास्य ब्रुवाणं चनाथ य एनं द्वेष्टि" ।[१६]

(२)"यच्छर्वोऽग्निस्तेन न ह वा एनं शर्वो हिनस्ति नास्य प्रजां नास्य पशूनास्य ब्रुवाणं चनाथ य एनं द्वेष्टि" ।[१७]

शांखायन ब्राह्मण में वर्णित कुछ पशुओं का वर्णन इस प्रकार है -

गाय-

वैदिककाल में गाय आर्यों का एक प्रमुख धन होने के कारण बहुत ही पूज्य एवं उपयोगी पशु हुआ करती थी। यज्ञ दक्षिणा के रूप में सहस्र गायों तक का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गाय दक्षिणारूप से सर्वप्रमुख देय होने के कारण "दक्षिणा" के पर्याय के रूप में "गाय" शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।[१८] यज्ञकर्म में गाय का अधिक महत्त्व होने के कारण इसे देवताओं का "प्रिय" कहा गया है-

"**प्रजापतेस्तत्सहस्रमन्वाकरोद्दुहित्र उह्यमाना एतदासां देवतानामासीत्" ।**[१९]

---

[१४] वही,१८.१०.२९.८.३०.१०

[१५] वही,३.७.२९.३

[१६] वही,६.२

[१७] वही,६.३

[१८] श०ब्रा०,११.१.६.२२

[१९] शा०ब्रा०,१८.१

गाय के दूध का यज्ञ के लिये प्रयोग होने के कारण उसे "धेनु" कहा जाता था-"**धेनुर्गौ**[२०]"। ऐसा ही उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जहाँ लिखा है-

"**धेनुरिव वा इयं मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे। माता धेनुः मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति**"।[२१]

अर्थात् गाय एक माता के समान मानव की सभी इच्छाओं को पूर्ण करती हुई उनका भरण-पोषण करती है। शांखायन ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि अग्निहोत्री गाय का विधिवत् पालन करके इसके दूध का अग्निहोत्र में प्रयोग किया जाता था-

"**तस्यै दुग्धेन सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयादुभयस्याऽप्त्या एव एतावन्तः पातास्तेषां येन कामयेत तेन यजेत**"।[२२]

शांखायन ब्राह्मण में एक स्थल पर गाय को दक्षिणारूप में देने का भी उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि बारह मास के लिये बारह गाय दक्षिणा में दी जाती थीं-

"**यत्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धं यज्ञस्यैव समृद्ध्यै द्वादशदद्याद्वादश वै मासाः**"।[२३]

दक्षिणारूप में श्वेत गाय का भी उल्लेख प्राप्त होता है-

"**तत्प्रीणात्यथ यच्छ्वेता दक्षिणैतमेव तत्प्रीणात्येतस्यैव तद्रूपं क्रियते**"।[२४]

---

[२०] यजु०,२१.१९

[२१] शां० ब्रा०,५.३.१.४

[२२] शां० ब्रा०,४.१४

[२३] वही,१.१

[२४] वही,५.८

गाय की उत्पत्ति के विषय में वहाँ कहा गया है कि "**विरश्मिभिः ससृजे सूर्यो गा इति**"।[२५] अर्थात् गाय की उत्पत्ति सूर्य की रश्मियों से हुई है।

अश्व-

शतपथ ब्राह्मण में "अश्व" का उल्लेख करते हुये लिखा है- "**स हि अपरिमितं वीर्यमभिवर्धते**",[२६] अर्थात् जिसमें अपरिमित शक्ति होती है, वह अश्व कहलाता है। अश्व मनुष्यों का ही नहीं अपितु देव, गन्धर्व तथा असुरों का भी सम्बन्धित पशु है- "**हयो भूत्वा देवानवहद्। वाजी गन्धर्वान्। अर्वा असुरान्। अश्वो मनुष्यान्**।[२७]

शांखायन ब्राह्मण में "अश्व" एक घोडे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह इन्द्र का प्रिय पशु है- "**अथ यदश्वं ददातीन्द्रो वा ऐन्द्रं ह्येतदुक्थमिन्द्रमेव**"।[२८] उस समय में अश्व का प्रयोग रथ में किया जाता था- "**तिष्ठा हरीरथ आयुज्यमानेऽतिमरुत्वतीयं तिष्ठेति**"।[२९] तीव्र गति वाला होने के कारण इसको "**वाजी**" भी कहा गया है- "**अश्वा वै वाजिनः**"[३०] "**यद्वाजिनो यजति**"।[३१] अश्व का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर दक्षिणा के रूप में देने का भी प्रावधान था। एक स्थल पर तेरहवें मास के लिये अश्व को देने का उल्लेख मिलता है- "**अश्वं त्रयोदशं ददाति**

---

[२५] वही,२५.२

[२६] श० ब्रा०,२.१.४.१७

[२७] वही,१०.६.४.६

[२८] शां० ब्रा०,१५.४

[२९] वही, २०.४

[३०] वही,५.२

[३१] वही,५.४

यस्त्रयोदशो मासस्तस्याप्त्यै" ।[३२] कहीं पर श्वेत अश्व को दक्षिणा में देने का भी प्रावधान था- **श्वेतं दक्षिणानिन्युरेतमेव**"।[३३] आधुनिक युग में "हार्सपावर" शब्द यन्त्रों की शक्ति के लिये प्रयुक्त होता है, जिससे सिद्ध होता है कि अश्व शक्ति का प्रतीक माना जाता था।

अजा-

ग्राम्य पशुओं में अज और अजा का भी महत्त्व होता था। अज प्रजापति है। अज और अजा का बहुसृजकत्व उसे प्रजापति के समकक्ष बना देता है, क्योंकि ये वर्ष में लगभग तीन बार एक साथ दो या तीन बच्चे उत्पन्न करती हैं- **"प्रजापतिर्वाऽएष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजास्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति तत्प्रजापतिमेवेतत्करोति"**।[३४] **ते वै सर्वे तूपरा भवन्ति"**।[३५] शांखायन ब्राह्मण में अजा और 'अवि' शब्दों का उल्लेख मिलता है, जहाँ इसे 'उष्णिक्' से सम्बन्धित दर्शाया गया है- **"उष्णिहमन्वाहाजाविक-मेवोष्णिग्जगतीमन्वाह"**।[३६] 'अवि' भेड का पर्याय है। अजा के दुग्ध को उत्तम माना गया है क्योंकि वह विभिन्न प्रकार के पौधों की पत्तियां खाती हैं- **"अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनां रसेन...."**।[३७] शांखायन ब्राह्मण में अजा के लिये 'छाग' शब्द भी मिलता है- **"तं वै चतुर्भिः क्रीणाति गवा चन्द्रेण वस्त्रेण छागया**"।[३८] अतः इससे स्पष्ट होता

---

[३२] वही,१.१

[३३] वही,३०.६

[३४] श० ब्रा०,५.२.१.२४

[३५] वही,५.१.३.७

[३६] शां० ब्रा०,११.२

[३७] श० ब्रा०,६.५.४.१६

[३८] शां० ब्रा०,७.१०

है कि आर्य अन्य पशुओं की भाँति ही 'अजा' का भी प्रयोग जीवन में महत्त्व है।

रासभ-

'रासभ' से सम्बन्धित अनेक पर्यायों का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में किया गया है। शतपथ में इसे खर, रासभ, गर्दभ, द्विरेतस् एवं भार-भारितम् इत्यादि अनेक नामों से पुकारा गया है।[३९] शांखायन ब्राह्मण में 'रासभ' का 'अश्विनी' से सम्बन्ध बतलाया गया है। अश्विनी इसी के द्वारा दौड जीतते हैं- **"अश्विना उदजयतां रासभेन तस्माद् बह्वयो देवताः शस्यन्तेऽथाश्विनमित्याख्यायते तत् उ हैतदुत रासभो न सर्वमिव जवं धावति श्रितं नयेति हतं मन्यमानः"।**[४०] 'रासभ' वस्तुतः 'अश्व' से हीन पशु माना जाता है। अश्व से हीन होने पर भी इसे उत्तम भारवाहक पशु स्वीकार किया गया है।

इसके अतिरिक्त शांखायन ब्राह्मण में 'महिषी' 'मेष' 'हस्ती' इन पशुओं का भी नामोल्लेख कहीं-कहीं पर दृष्टिगत होता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शांखायन ब्राह्मण में पशुओं को चतुर्विध या चतुष्पाद कहते हुये मानव और पशुओं में बोलने की कला को लेकर भिन्नता दर्शाई गई है। पशुपालन मानव का मुख्य व्यवसाय था। इनका प्रयोग क्रय-विक्रय के लिये भी किया जाता था। गाय, भेड, बकरी, रासभ इत्यादि पशुओं की पालना एवं कामना हेतु लोग यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों का आयोजन करते थे।

---

[३९] श० ब्रा ०,५.१.२.१५, ६.१.१.१, ४.५.१.९, ६.३.१.२३

[४०] शां० ब्रा०, १८.१

कौषीतकि ब्राह्मण में पशुयाग एवं पशु का स्वरूप

डॉ० विनोद कुमार[१]

कौषीतकि ब्राह्मण का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सोमयाग है ।अतः इसके तीस अध्यायों में सातवें से लेकर अन्तिम तक २३ अध्यायों में सोमयाग का ही वर्णन है। सोमयाग के अन्तर्गत पशुयागसंज्ञक एक कर्मकाण्डीय प्रविधि की जाती है जो कि कौषीतकि ब्राहण के १०वें अध्याय में वर्णित है। सर्वप्रथम पशुयाग से पूर्व यज्ञस्थल पर राक्षसों के अपहन्ता वज्र के प्रतीक यूप को गाढा जाता है तथा पश्वालम्भन के लिए सात मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम मन्त्रों का तीन- तीन बार पाठ किया जाता है जिससे मन्त्र संख्या ११ हो जाती है। चूँकि त्रिष्टुप् छन्द में ११ अक्षर होते हैं और पशु त्रिष्टुप् से सम्बद्ध है अतः यह मन्त्रपाठ पशुओं की प्राप्ति के लिए होता है- **'सप्त वै छन्दांसि सर्वेषामेव छन्दसामाप्त्यै त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तमयैकादश संपद्यन्त एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभाः पशवः पशूनामेवाप्त्या इति'**[२]।

---

[१] **सहायक आचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महविद्यालय, काँधला**

[२] कौषीतकि ब्राह्मण, अध्याय १०, खण्ड २

यहाँ पशु शब्द अत्यधिक रहस्यपूर्ण एवं विवादास्पद होने के कारण चिन्त्य है। कौषीतकि ब्राह्मणान्तर्गत पशु शब्द अनेक अभिप्रायों से अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। यथा –**पशवो वा इडा** (५/७) **प्रगाथः पशवः** (१५/४) **पशवो वै वैश्वदेवम्** (१६/३) **पशवो वा अक्षरपङ्क्तयः** (१६/८) **पशवो वा उक्थानि** (१६/११) **पशवो वै धाना, त्रिष्टुप् पशवः** (१८/६) **अभिप्लवाः पशवः** (२१/५) **पशवः पङ्क्तिरिति , प्रउगः पशवः** (२३/१) **प्रजा पशवो नाराशंसः** (२३/८) **छन्दोमाः पाङ्क्ताः पशवः** (२६/१२) **पशवो वै जगती** (३०/२) इत्यादि। उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट है कि यहाँ ब्राह्मणकार की दृष्टि में लोकदृष्ट पशु, पशु नहीं है किन्तु अधिकांश कथनों में उन्होंने पशु को हवि के पर्यायवाची शब्द के रूप में अवश्य प्रयुक्त किया है। यहाँ हवि द्विविध दिखाई देती है -१.धाम अर्थात् ठोस तथा पाथ अर्थात् पेय[३] । सोम पेय हवि है जबकि पशु ठोस हवि है। प्रजापति के प्रत्यक्ष शरीर की चर्चा करते हुए ऋषि उसका भद्रा और कल्याणी दो रूप मानते हैं जिनमें सोम को भद्र तथा पशु को कल्याणी कहा है[४] जिससे सोम एवं पशु की विलोमशब्दात्मकता सिद्ध हो रही है। इस द्विविध हवि के आधार पर ऋषि कौषीतकि ने देवताओं को भी दो वर्गों में बाँट दिया है- एक सोमपायी देवता हैं दूसरे पशुभाजन देवता हैं जबकि सोमपायी एवं पशुभाजन समस्त देवता ३३ ही हैं[५]। इनमें आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, बत्तीसवे इन्द्र तथा तैंतीसवे प्रजापति हैं। जब इन्हें सोम आदि पेय द्रव्यों की आहुति दी जाती है तो वे सोमपायी कहलाते हैं और जब पुरोडाशादि खाद्य द्रव्यों

[३]वही, अ.१०, खं.६

[४]वही, अ.२७, खं.५

[५]वही, अ.१२, खं.६

की आहुति दी जाती है तब वे पशुभाजन देवता कहलाते हैं- **'याश्च सोमपा देवता याश्च पशुभाजनास्त्रयस्त्रिंशद्वै सोमपा देवता याः सोमाहुतिरन्वायत्ता अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रो द्वात्रिंशत्प्रजापतिस्त्रयस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशत्पशुभाजनास्ता उभय्यः प्रीता भवन्ति'**[६]।

उल्लेखनीय है कि यहाँ पशु को सोम भी कहा गया है जिसे पशुसोम की संज्ञा दी है कि यह पशु प्रत्यक्षसोम है क्योंकि यदि यह आलम्भित होता तो यह उदकपेय होता- **'अथ पशुसोम एवैष प्रत्यक्षं यत्पशुरुदकपेयमिव ह स्याद्यदेष आलभ्यते'**[७]**।** यहाँ ऋषि की संशयोक्ति कि 'यदि आलम्भित होता तो यह उदकपेय होता' ही प्रमाण है कि पशुवध नहीं होता केवल मानसिक व्यापार होता है। पेयात्मक पशुसोम से प्रातःसवन तीव्र (दृढ) किया जाता है, जो पकाते हैं अर्थात् पशुपुराडाश से माध्यन्दिन सवन तीव्र किया जाता है तथा तृतीय सवन में जो करते हैं उससे सायंसवन का तीव्रीकरण होता है। यह सवनों का तीव्रीकरण या दृढीकरण है।

ऋषियों का तात्पर्य यागों में पशुहिंसा से नहीं हो सकता इसका पता निम्नलिखित आख्यायिका से चलता है जो कि कौषीतकि ब्राह्मण में पश्वालम्भन का प्रयोजन बतलाने के लिए प्रस्तुत की गयी है- 'प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि कर स्वयं को रिक्त सा अनुभव किया। उन्होंने सोचा मैं कैसे ऐसे यज्ञ से यजन करुं जिससे यजन कर मैं अपना अभीष्ट प्राप्त करुँ और अन्नाद्य को प्राप्त करुँ। तब उन्होंने एकादशिनी (ग्यारह पशुओं के वर्ग) को देखा और उसका आहरण किया। उससे यजन किया तथा इससे

---

[६]वही

[७]वही

यजन कर उन्होंने अपनी कामनाओं को प्राप्त किया और अन्नाद्य को जीता। इसी प्रकार यजमान भी इस एकादशिनी से यजन कर कामनाओं को प्राप्त करता है तथा अन्नाद्य को प्राप्त करता है[८]। यहाँ सामान्यबुद्धि व्यक्ति भी यह स्वीकार नहीं कर सकता कि जिसने अपनी रिक्तता दूर करने एवं अन्नाद्य की प्राप्ति के लिए पशुसंवर्ग का आहरण किया वह उनका वध करेगा। क्योंकि यदि ऐसे करेगा तो रिक्तता कैसे दूर होगी और अन्नाद्य कैसे प्राप्त होगा? अतः यजमान को एकादश पशुसंवर्ग का संरक्षण करने में अन्नाद्य की प्राप्ति है न कि उनके वध में। विभिन्न यागों में प्रतीकरूप में उनकी उपस्थिति होती है, उद्देश्य वहाँ भी अन्नाद्य की प्राप्ति हेतु उनका संरक्षण ही होना चाहिए।

सम्प्रति अनूबन्ध्या (जो कि चतुर्थ सवन है और जिसकी हवि (पशु) मित्र और वरुण को दी जाती है क्योंकि अग्नि और सोम का पशु पहले दिया जा चुका रहता है) का प्रकरण द्रष्टव्य है। यहाँ ऋषि कहते हैं यदि पशु लाया जा चुका है और बिना उपाकृत (प्रस्तुत) किए अर्थात् कर्मकाण्डीय प्रविधि करने से पूर्व मर जाता है तो उसे ऋत्विजों को दे देना चाहिए। तदनन्तर वे दूसरे उसी रूप और उसी देवता के पशु का आलम्भन करें[९]। इस प्रसंग मे चिन्तनीय बात यह है कि यदि यहाँ पशु के अंगों की आहुति अभीष्ट होती तो कुछ क्षण पूर्व में मृत पशु के अंगों से हवि दी जा सकती थी किन्तु वहाँ पशु के अंगों की आहुति न देकर जीवित अंगों से प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड अनिवार्य है। मृतपशु से प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड सम्पन्न करने का कोई औचित्य नहीं। वास्तव में यह हवनीय पशु अन्नादि से ही परिकल्पित है।

---

[८]वहीअ.१२, खं.८

[९]वही, अ.१८.खं.१२

अत एव इसी प्रकरसण में ऋषि आगे लिखते हैं कि यदि पशु आठ पैरों वाला है तो कैसे होगा? ऋषि उत्तर देते हुए लिखते हैं- 'गर्भ के वपारूप (वृक्ष, ओषधि, वनस्पत्यादि की) त्वचा को और पीसे अन्न की भूसी-रूपी गर्भ को शामित्र अग्नि पर पकाकर दूसरे के वषट्कार से उसे शामित्र अग्नि में हवन करें- **'यद्यष्टापदी स्यात्कथं स्यादिति गर्भस्य त्वचो वपारूपं फलीकरणानां फालीकरणानां गर्भमिति शामित्रे श्रपयित्वेतरस्य वषट्कारेषु............**[१०] **।** आगे ऋषि लिखते हैं कि यदि पशु दिया जाता है तो यह पूर्वोक्त स्वरूप (अर्थात् अन्नब्रीह्यात्मक) है परन्तु मित्र और वरुण के लिए पयस्या अर्थात् दुग्ध पदार्थ से निर्मित हवि ही दी जावे क्योंकि यदि पशु गो है तो मित्र और वरुण गाय के साथ प्रशंसित हुए हैं अतः पशु गाय है (और गो पशु की हवि का तात्पर्य पयस्या है न कि गोवध) '**अथ यदि गौ पशुर्भवति गोसंस्तवो वै मित्रावरुणौ तस्माद् गौपशुर्भवति**'[११] **।**

दर्शपौर्णमास प्रकरण में भी ऋषि ने संकेत किया है कि हम यजमान के पशु को उससे पृथक् न करें अर्थात् उसका वध न करें। जो इडा (यज्ञीय चरु) का आह्वान कर और सूँघकर नहीं खाते वह इसलिए की पशु ही इडा है- **'अथ यदिडामुपहूयावघ्राय न प्राश्नन्ति पशवो वा इडा'**[१२] **।** अतः कौषीतकि ब्राह्मण के अध्ययन के उपरान्त इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऋषियों का अभिप्राय पशुहवि से पशुओं की हिंसा बिल्कुल नहीं था। ऋषि स्वयं कह रहे हैं कि प्रतीकरूप पशु आत्मा है तथा वनस्पति (खाद्य द्रव्यरूप) प्राण है। यदि वहां कोई पशुवध का उल्लेख करता है तो उसने 'आत्मा को प्राण से अलग किया है वह नहीं जीवेगा' यह ऐसा होगा। और

---

[१०] वही

[११] वही, अ.१९, खं.१३

[१२] वही, अ.५, ख.७

मृत या दुष्टाहुति देवताओं को नहीं दी सकती अतः पशु के सम्बन्ध में वनस्पति का आह्वान करना चहिए[१३]। अत एव ऐतरेय ब्राह्मण में पश्वालम्भन के तुरन्त बाद पशुपुरोडाश का वर्णन है जिससे सिद्ध होता है कि हवि दुष्ट न हो इसके लिए आत्मा स्वरूप जीवित पशु तो यागस्थल पर लाया जाता है किन्तु हवि के लिए पशु अवध्य होने के कारण व्रीहि, ओषधि, वनस्पत्यादि से परिकल्पित पशु की ही आहुति दी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यायिका के द्वारा यह सिद्ध भी किया गया है कि यज्ञयोग्य हवि पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि, व्रीहि आदि ओषधियाँ ही हैं[१४]। इसलिए व्रीह्यादि से निर्मित पुरोडाश ही यहाँ पशुसंज्ञक है '**स वा एष पशुरेव वा आलभ्यते यत्पुरोडाशः**[१५]। यहाँ पर सायणाचार्य भी लिख रहे हैं '**पशुत्वेन पुरोडाशं स्तौति**'। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट ही पुरोडाश में पशुत्व का आरोप है। वस्तुतः यह आरोप की प्रक्रिया ही प्रतीकवाद की जन्मदात्री है। यदि कोई प्रश्न करे कि पशु के तो लोम त्वक् आदि अवयव होते हैं इस पुरोडाश में लोम त्वगादि अवयव कहाँ हैं? इस रहस्य को भी ऋषि याज्ञवल्क्य ने उद्घाटित करते हुए लिखा है- '**यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति यद् आप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयोति अथ मांसं भवति**[१६]।

उल्लेखनीय है कि इस विषय में स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती यागों में पशुहिंसा को अस्वीकार कर पशुवध के लिए मांसभक्षण के लोभी मीमांसक श्रोत्रियों को दोषी मानते हैं। वे तर्कपूर्वक नाटक की यथार्थता समझाते हुए सप्रमाण लिखते हैं– '**मा हिंस्यात् सर्वभूतानि**' इत्यादि ब्राह्मण

---

[१३]वही, अ.१२, खं.७

[१४]ऐतरेय ब्राह्मण २.६.८

[१५]वही २.६.९

[१६]शतपथ ब्रा.का१, अ.२, ब्रा.३, कं ८

वाक्यों के कारण नाटक के इस भाग में वह रस-विघातिनी बीभत्स क्रूरता यथार्थ नहीं आ सकती। प्रतीत होता है कि यथार्थता के लिए पहले लोगों ने व्रीहिमय पशु की आहुति दी होंगी। इसलिए महाभारत में आया है- **'पुरा व्रीहिमयः पशुः'।** भागवत में भी पिष्टपशु का वर्णन है। पहले ये मानस व्यापार था फिर पिष्टपशु बना। फिर संसार में अज्ञान लोभ मदान्धता बढी तो पूरी यथार्थता हो गयी। वस्तुतः पशुत्व की हिंसा पशुहिंसा है, पशुओं के शरीर की हिंसा पशुहिंसा नहीं[१७]। इसलिए महाभारत में कहा है-

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्॥[१८]

अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ स्वार्थी एवं जिह्वालोलुप श्रोत्रियों के कारण यागों में हिंसा का प्रचलन हो गया था किन्तु वह वेदसम्मत नहीं था। वह ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या न होकर कुव्याख्या का परिणाम था अत एव सम्भवतः ऋषि कौषीतकि यागों में पशुहिंसा के निवारणार्थ धार्मिक भय प्रदर्शन का आश्रय लेते हुए लिखते हैं- 'जो उपवास के दिन अग्नि और सोम के लिए एक पशु का आलभन किया जाता है वह उसका अपने लिए निष्क्रय होता है। निष्क्रय (अर्थात् आत्मविक्रय) से वह ऋणरहित होता है और अनृण होकर यज्ञ करता है। इसलिए इसे उसको नहीं खाना चहिए क्योंकि यह पुरुष की ही प्रतिमा है। लेकिन दूसरे लोग कहते हैं कि प्रत्येक हवि आत्मनिष्क्रय है और प्रत्येक हवि में इस प्रकार वही पुरुष है अतः किसी भी हवि को नहीं खाना चहिए'। कहने का तात्पर्य यह है कि जब मांसलोलुप श्रोत्रियों ने पश्वालम्भन में

---

[१७]अद्भुतकुमारसम्भव (लेख, स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती)

[१८]महाभारत, शान्ति पर्व, अ.२६३ श्लो. ६

आहरित पशु का वध कर उसे हवि बना दिया तो ऋषि उसके खाने में दोष बता रहे हैं कि यदि यजमान उस हवि को खाएगा तो ऋणी रहेगा जबकि याग ऋणमुक्त होकर करना चाहिए। परन्तु प्रतिपक्षियों ने प्रत्येक पुरोडाशादि हवि को आत्मनिष्क्रय माना क्योंकि अन्नव्रीह्यादि प्रत्येक पदार्थ क्रय करके ही हवि के लिए उपयोग में लिया जाता है। अतः जो आत्मनिष्क्रय को नहीं खाना चाहता है, वह न खाए। और जब किसी की इच्छा हो तो खा ले[१९]।

अग्रिम अध्याय में प्रातःअनुवाक के वर्णन प्रसंग में ऋषि पुनः पशुवध निवारणार्थ परलोक का भय प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि जैसे इस लोक में मनुष्य पशुओं को खाते हैं उनका भोग करते हैं उसी प्रकार उस लोक (परलोक) में पशु मनुष्यों को खाते हैं, उनका उपभोग करते हैं। वह इन्हें इस लोक में प्रातःअनुवाक से प्राप्त करता है। इस लोक में अवरुद्ध (प्राप्त) किए जाने पर वे इसे उस लोक में नहीं खाते, उनके द्वारा उसका उपभोग नहीं होता है। जैसे वह उन्हें इस लोक में खाता है, उनका उपभोग करता है उसी प्रकार इनको वह पशु उस लोक में खाता और उपभोग करता है–

'यथैवेनानस्मिंल्लोकेऽश्नाति यथेभिर्भुङ्क्त
एवमेवैनानमुष्मिंल्लोकेऽश्नात्येवमेवेभिर्भुङ्क्ते'[२०]।

उपर्युक्त वर्णन प्रसङ्गों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणग्रन्थों में उल्लिखित पशु, लोकदृष्ट चतुष्पद पशु नहीं है। इसका प्रयोग यहाँ हवि के पर्यायवाची के रूप में हुआ है अत एव सोम, पुरोडाश, इडा आदि को भी पशु कहा गया है। इसके अतिरिक्त अभिप्लव, उक्थ्य, त्रिष्टुप्, बृहती, जगती, पङ्क्ति

---

[१९]कौषीतकि ब्रा., अ.१०, खं.३

[२०]वही, अ.११, खं.३

आदि को भी पशु कहने से अनुमेय है कि दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न प्रसङ्गों में पशु शब्द का अर्थ एवं प्रत्यायनीय भी भिन्न-भिन्न एवं रहस्य के गर्त्त में निगूढ है। कौषीतकि ब्राह्मण के पारायण से इतना अवश्य पता चल जाता है कि ऋषि बार बार पशु की प्राप्ति की बात कह रहे हैं तथा पशुओं से अन्नाद्य की प्राप्ति बतला रहे हैं जो कि पशुसंरक्षण से सम्भव है न कि पशुवध से।

अस्तु, यदि दुर्जनतोषन्याय से इस बात को अङ्गीकार भी करें कि प्राचीनकाल में आदिमानव के पास आहार हेतु अधिक साधन या सामग्री उपलब्ध नहीं थी अतः जो सभ्य थे वे फल-फूल कन्द आदि को मुख्य आहार के रूप में ग्रहण करते थे जबकि असभ्य एवं मांसलोलुपों के लिए मांसाहार ही प्रमुख भोजन था। सम्भव है इस कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की कुव्याख्या कर यागों में पशुहिंसा को प्रचलन में ला दिया गया हो। किन्तु वेद में 'अध्वर' (जिसमें हिंसा न की जाती हो) विशेषण एवं कहीं कहीं यज्ञ के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त यह शब्द ही इस बात को बताने के लिए पर्याप्त है कि यज्ञों में हिंसा का कोई स्थान नही है। अतः यागों में पशुहिंसा वेदविरुद्ध है।

किञ्च, आधुनिक इतिहासकारों एवं तथाकथित विद्वानों के मतानुसार मानव समाज असभ्यता (आदिमानव) से सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ है। उसने रहन, सहन, खान, पान, वस्त्राभूषण, वेशभूषा आदि प्रत्येक क्षेत्र में अपना विकास किया है किन्तु आहार में वह आज भी क्यों आदिमानव ही बना रहना चाहता है ? यदि तथाकथित बुद्धिजीवी, सम्भ्रान्त परिवार, स्वघोषित सभ्य समाज इस विषय में तटस्थ होकर विचार करें तो उन्हें अवश्य अनुभव होगा कि आज की ही भाँति जिह्वालोलुपों के द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों की कुव्याख्या का परिणाम है यज्ञों में पशुहिंसा। और आज के

मांसलोभियों की जिह्वालोलुपता का परिणाम है वेद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में मांसभक्षण का समर्थन स्वीकार कर उसे उचित ठहराना। चूँकि यह वेदविरुद्ध है। मांसाहार प्रकृति में असन्तुलन पैदा करता है, पर्यावरण को हानि पहुँचाता है, और मानव की असभ्यता का परिचय प्रस्तुत करता है। अतः पशुहिंसा या मांसभक्षण को न तो प्राचीनकाल में और ना ही वर्त्तमान समय में, किसी भी प्रकार से उचित ठहराया जा सकता, फिर अपौरुषेय वेद एवं आर्षग्रन्थों के अनुगामी यागों में तो पशुहिंसा कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती।

कौषीतकि ब्राह्मण में अष्टमूर्ति शिव एवं सृष्टि विज्ञान

डा० जगमोहन[1]

वैदिक वाङ्मय में प्रारम्भ से ही सृष्टि उत्पत्ति के विषय में चिन्तन किया गया है। उपनिषद् एवं दर्शनों में तो उसका एक व्यवस्थित रूप प्राप्त होता है। पुराणों में तो सृष्टि उत्पत्ति एवं प्रलय को उनके लक्षण के रूप में स्वीकृत कर लिया गया है। कौषीतकि ब्राह्मण का मुख्य विषय तो यज्ञीय कर्मकांड का व्याख्यान ही है। परंतु प्रसंगवश उसके छठे अध्याय में सृष्टि उत्पत्ति विषयक चर्चा भी प्राप्त होती है। इसी प्रसंग में अष्टमूर्ति शिव का वर्णन प्राप्त होता है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल के मंगलाचरण में अष्टमूर्ति शिव की स्तुति की है।[2] विष्णु पुराण[3] एवं भविष्य पुराण[4] में शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। कौषीतकि ब्राह्मण का स्वाध्याय करते हुए शिव के पौराणिक नामों की चर्चा देखकर मन में अत्यंत कौतुक

[1] **सहायक आचार्य, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

[2] प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः। अभिज्ञानशाकुन्तल श्लोक-१

[3] सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च।दीक्षितो ब्राह्मण: सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः॥

[4] शर्वो भवस्तथा रुद्र उग्रो भीमः पशोपतिः। ईशानश्च महादेवो मूर्तयश्चाष्ट विश्रुताः॥

हुआ कि पुराणों में जिस अष्टमूर्ति शिव का वर्णन प्राप्त होता है। उसका मूल वैदिक साहित्य है। कहीं न कहीं वैदिकवाङ्मय की अवधारणा को ही पुराणों में भिन्न शैली के द्वारा सरल एवं सहज रूप में समझाने का प्रयास है। जैसा कि स्वयं महर्षि वेदव्यास कहते हैं-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

कौषीतकि ब्राह्मण सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहता है कि प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप किया। उनके तप्त होने पर उनसे पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और उषा।[५] प्रजापति ने उनसे कहा कि तुम लोग भी तप करो। उनके तप्त होने पर प्रजापति की सन्तान उषा अप्सरा का रूप धारण कर उनके सामने प्रकट हुई। उसमें इन लोगों ने रेतस् का संचयन किया। उन्होंने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहा हमने उषा में रेतस् का सिञ्चन किया है। प्रजापति ने हिरण्मय चमस बनाया जो बाण मात्र ऊंचा और मोटा था। उसमें इसका सिञ्चन किया। तब वह सहस्राक्ष, सहस्रपात् और सहस्र इन्द्रिय वाला होकर उठा।

यहाँ पर कौषीतकि ब्राह्मण से संकेत प्राप्त होता है कि प्रजापति ने पहले सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति की। सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होने के पश्चात् उनको भी पूर्ण विकसित होने में कुछ समय अवश्य लगा। यह कालावधि ही उनका तप है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया सूक्ष्म भूतों के उत्पन्न होते ही शुरू नहीं हुई। अपितु उसके बीच में एक कालावधि है। सूक्ष्म भूत जब पूर्ण रूप से विकसित हो गए तब उनकी पञ्चीकरण की प्रक्रिया को किया गया।

पञ्चीकरण की प्रक्रिया भी एक कालावधि तक चली। इस पञ्चीकरण

---

[५]प्रजापति प्रजातिकाम:तपोऽतप्यत तस्मात् तप्तात् पञ्च अजायन्त अग्नि:वायुःआदित्यः चन्द्रमाः उषाः पञ्चमी।

की प्रक्रिया के लिए जिस स्थान या परिस्थिति आदि को चुना गया वही हिरण्मय चमस है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया समाप्त होने के पश्चात् सहस्राक्ष, सहस्रपात् रूप प्रजापति उत्पन्न हुए। यह सहस्राक्ष ही हिरण्यगर्भ प्रजापति है। जिससे स्थूलभूतों का निर्माण एक क्रम के अनुसार हुआ। यह तत्त्व ही सम्भवतः सृष्टि का प्रथम वह तत्त्व है जिसके भीतर इस सम्पूर्ण विश्व के निर्माण की सभी आवश्यक संभावनायें निहित होती हैं। इसको समझने के लिए प्रजनन की प्रक्रिया पर विचार कर सकते है। स्त्री पुरुष के संयोग होने से लेकर पिण्ड तक के निर्माण तक की प्रक्रिया को पञ्चीकरण की प्रक्रिया का उपलक्षण माना जा सकता है । पिण्ड में निर्माण की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का सामर्थ्य प्राप्त होना ही पिण्ड का हिरण्यगर्भत्व है। उसके बाद अपने आप स्वत: सभी अङ्गों का निर्माण एक प्रक्रिया के अनुसार होता रहता है। जिसका आख्यान रूप में वर्णन करते हुए कौषीतकि ब्राह्मण कहता है कि वह सहस्राक्ष, सहस्रपात् अपने पिता प्रजापति के पास गया। प्रजापति ने उससे कहा तुम मेरे पास क्यों आए हो? उन्होंने कहा मुझे नाम दीजिए। बिना नाम रखे मैं इस विहित अन्न को नहीं खा सकता। उन्होंने कहा- तुम भव हो। जो भव है वह जल है।[६] ब्राह्मणकार यहाँ पञ्चीकरण की प्रक्रिया के पश्चात् प्रथम स्थूल भूत की उत्पत्ति के रूप में जल की उत्पत्ति की ओर संकेत कर रहा है। मनुस्मृति भी प्रथम स्थूल भूत की उत्पत्ति के रूप में जल की उत्पत्ति का वर्णन करती है।

सोऽभिधाय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्॥

---

[६]स वै त्वमित्यब्रवीत् भव एवेति यद्भवः आपः।

शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी **आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्** जल को प्रथम सृष्टि कहा गया है। जल की उत्पत्ति का अभिप्राय यहाँ पर जिस जल को हम पीते हैं उस जल से नहीं होना चाहिए। अपितु इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त जलीय तत्त्व से ही समझना चाहिए।

वह पुनः दूसरी बार प्रजापति के पास पहुंचा। उसने कहा मुझे दूसरा नाम दीजिए। एक नाम से ही मैं इस अन्न को नहीं खा सकता। प्रजापति ने कहा तुम शर्व हो। क्योंकि अग्नि शर्व है।[७] यहाँ पर ब्राह्मण जलतत्त्व की उत्पत्ति के पश्चात् अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति का वर्णन कर रहा है। यहाँ पर भी अग्नि केवल भौतिक तत्त्व न होकर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त अग्नि तत्त्व से ही समझना चाहिए ।

तीसरी बार वह पुन: प्रजापति के पास पहुंचा और प्रजापति से तीसरे नामकरण के लिए प्रार्थना की। तीसरे नाम के रूप में प्रजापति ने कहा तुम पशुपति हो। क्योंकि पशुपति वायु है।[८] यहाँ पर ब्राह्मण ने तीसरे स्थूल भूत के रूप में वायु की उत्पत्ति का वर्णन किया है। यहाँ पर भी वायु केवल भौतिक तत्त्व न होकर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त वायु तत्त्व से ही समझना चाहिए।

पशुपति शब्द की व्याख्या करते हुए पुराण कहता है-

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशव परिकीर्तिताः।
तेषां पतित्वात् विश्वेशो भवः पशुपतिः स्मृतः॥
सर्वदा यत्पशून् पाति तेषु यद्रमते पुनः।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपति स्मृतः॥

---

[७]स वै त्वमित्यब्रवीत् शर्व एवेतियद् शर्वोऽग्निः।

[८]स वै त्वमित्यब्रवीत् पशुपतिरेवेति यद् पशुपतिर्वायुः।

ब्राह्मणों में प्रयुक्त पशु शब्द केवल सामान्य भाषा में प्रचलित अर्थों में प्रयुक्त न होकर विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका भी निदर्शन हमें यहाँ प्राप्त होता है। अतः पशु शब्द की व्याख्या हमें व्यापक सन्दर्भ में करनी होगी। तभी अनेक स्थलों पर ब्राह्मण ग्रन्थों की सही सही व्याख्या सम्भव हो सकेगी।

चौथी बार वह पुनः प्रजापति के पास पहुंचा और चौथे नामकरण के लिए प्रार्थना की। चौथे नामकरण के रूप में प्रजापति ने कहा तुम उग्र देव हो। क्योंकि उग्र देव ओषधियां और वनस्पतियां हैं।[९] यहाँ पर ब्राह्मण ने चौथे स्थूल भूत के रूप में ओषधि एवं वनस्पति का वर्णन करते हुए ब्रह्माण्डीय पार्थिव तत्त्व का वर्णन किया है। क्योंकि ओषधि एवं वनस्पतियों की उत्पत्ति के लिए पार्थिव तत्त्व आवश्यक हैं।

पाँचवी बार पुनः प्रजापति के पास पहुंचा और प्रजापति से पाँचवे नामकरण के लिए प्रार्थना की। पाँचवे नामकरण के रूप में प्रजापति ने कहा तुम महादेव हो। क्योंकि महादेव आदित्य है।[१०] यहाँ पर ब्राह्मण ने पाँचवे स्थूल भूत के रूप में आदित्य अर्थात् स्वप्रकाश से युक्त लोकों के निर्माण का वर्णन किया है। यहाँ पर आदित्य केवल सूर्य का वाचक नही है।

छठी बार वह प्रजापति के पास पहुंचा और प्रजापति से छठे नामकरण के लिए प्रार्थना की। छठे नाम के रूप में प्रजापति ने कहा तुम रुद्र हो। क्योंकि रुद्र चंद्रमा है।[११] यहाँ पर ब्राह्मण का संकेत है कि स्वप्रकाश से युक्त लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् चन्द्र आदि अर्थात् स्वप्रकाश से शून्य लोकों की उत्पत्ति हुई।

---

[९]स वै त्वमित्यब्रवीत् उग्र एव देव इति यद् उग्रो देव ओषधयो वनस्पतयः।

[१०]स वै त्वमित्यब्रवीत् महानेव देव इति यन्महान्देव आदित्यः ।

[११]स वै त्वमित्यब्रवीद् रुद्र एवेति यद् रुद्रःचन्द्रमाः ।

सातवीं बार वह पुनः प्रजापति के पास पहुंचा और प्रजापति से सातवें नामकरण की प्रार्थना की। सातवें नामकरण के रूप में प्रजापति ने कहा- तुम ईशान हो। क्योंकि ईशान अन्न है।[१२] ब्राह्मण के अनुसार आदित्य एवं चन्द्र लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् अन्न अर्थात् ऐसे तत्त्वों की उत्पत्ति हुई जो इस ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के स्रोत हैं। जिनसे ऊर्जा सतत बनती रहती है।

आठवीं बार वह पुनः प्रजापति के पास पहुंचा और प्रजापति से नामकरण की प्रार्थना की। आठवें नामकरण के रूप में प्रजापति ने कहा तुम अशनि हो। क्योंकि अशनि इन्द्र है।[१३] इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। आत्मा अर्थात् चैतन्य शक्ति है । इस आख्यान का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि पहले जड जगत् का निर्माण होता है, उसके पश्चात् आत्मतत्त्व का प्रकटीकरण होता है। क्योंकि आत्मा को नित्य तत्त्व माना जाता है। अतः उसकी उत्पत्ति न होकर प्रकटीकरण ही कहा जा सकता।

ब्राह्मणकार आगे पुनः कहते है कि प्रजापति ने तप किया। उन्होंने तप करके प्राण से इस लोक का, अपान से अन्तरिक्ष का और व्यान से द्यौ लोक का निर्माण किया।[१४] इन लोकों की उत्पत्ति के अनन्तर प्रजापति ने पृथिवी लोक से अग्नि की सृष्टि की, अन्तरिक्ष से वायु की और द्यौ लोक से आदित्य की सृष्टि की।[१५] पूर्व में अष्ट मूर्तियों का वर्णन करते हुए भी ब्राह्मण ने अग्नि, वायु एवं आदित्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है। पुनः यहाँ पर

---

[१२]स वै त्वमित्यब्रवीत् ईशान एवेति यद् ईशानः अन्नम् ।

[१३]स वै त्वमित्यब्रवीत् अशनिः एवेति यद् अशनिः इन्द्रः ।

[१४]प्रजापतिः तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इमं लोकं प्राबृहद् अपानाद् अन्तरिक्षलोकं व्यानाद् अमुं लोकं स एतान् त्रीन् लोकान् अभ्यतप्यत ।

[१५]सोऽग्निमेव अस्माद् लोकाद् असृजत वायुम् अन्तरिक्षलोकाद् आदित्यं दिवः स एतानि त्रीणि ज्योतींषि अभ्यतप्यत।

उनके वर्णन को औचित्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। निश्चित रूप से ब्राह्मण का दोनों जगह एक ही अभिप्राय नहीं हो सकता है। यह तथ्य पूर्ववर्णित इस धारणा की पुष्टि में प्रमाण है कि अष्ट मूर्तियों के वर्णन प्रसंग में अग्नि, वायु एवं आदित्य लौकिक देव न होकर ब्रह्माण्ड की विशेष शक्तियां हैं, जिनकी ब्रह्माण्ड के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यहाँ पर वर्णित ये अग्नि, वायु एवं आदित्य लौकिक देव ही हैं। जिनकी उत्पत्ति सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में बहु अन्तराल के बाद हुई।

इस प्रकार हम देखते है कि कौषीतकि ब्राह्मण में सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन एक सुन्दर आख्यान के द्वारा सरल एवं सहज रूप में वर्णित किया गया है। जिसके सौन्दर्य एवं रोचकता के कारण ही इस आख्यान के स्वरूप को पुराणों में अष्टमूर्ति शिव के रूप में समाहित कर लिया गया।

शाङ्खायन ब्राह्मण में ब्रह्मा (ऋत्विज्) का स्वरूप

डा० सत्यकेतु[१]

यज्ञ भारत की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक यात्रा के वाहक हैं। वैदिक ऋषियों एवं मुनियों ने जो कुछ अपनी साधना से प्राप्त किया, उसे समाज को देने के लिये यज्ञीय कर्मकाण्ड को उसका माध्यम बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के रहस्य को प्रकट करने हेतु यज्ञ की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यज्ञ की निरुक्ति यज[२] धातु से होती है, जिसके तीन अर्थ हैं :- देवपूजा-संगतिकरण-दान। यज्ञ में संगतिकरणपूर्वक, देवताओं में प्रमुख और उनके प्रत्यक्ष मुख अग्निदेव[३] को आहुति प्रदान करते हुए यज धातु के तीनों अर्थ उपकृत हो जाते हैं। यज्ञ करने के लिये चार ऋत्विजों का विधान किया गया है। ऋतौ यजतीति ऋत्विक्[४]- जो ऋतु समयानुसार यज्ञ

---

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**

[२] यज देवपूजासंगतिकरणदानेषू। भ्वादिगण उभयपदी, पाणिनीय धातुपाठ पृ २१

[३] अग्निर्वै देवानाम् मुखम्। शतपथ ब्राह्मण ३/९/१(१४)

[४] शब्दकल्पद्रुम। पृ० , ऋतु+ यज्+ क्विन् ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च। अष्टाध्यायी ३/२/५९। ऋतुं यजति, ऋतौ यजति, वसन्तादिक ऋतौ यजति, यस्मिन् ऋतुर्देवता स याग ऋतुस्तं यजति। ऋतुप्रयुक्तो वा यजति, यस्मिन् याग ऋतुः प्रयोजकस्तं यजतीति।

करता-कराता है वह ऋत्विक् है। मनुस्मृति के अनुसार अग्न्याधेय, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञों को यज्ञ के कर्त्ता यजमान द्वारा वरण किये जाने पर जो सम्पन्न कराता है वह ऋत्विक् है[५]। सोमयाग जैसे महायज्ञों के सम्पादन में अनेक ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। आश्वलायन श्रौतसूत्र एवं आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, आग्नीध्र, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्य आदि १६ प्रकार के ऋत्विजों का वर्णन मिलता है[६]। इन ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा को महाऋत्विक् माना गया है। ये आद्यतःकारिन् अथवा आद्यर्त्विज् भी कहे जाते हैं[७]। इनमें से प्रत्येक के तीन तीन सहायक होते हैं[८]। अग्निहोत्र के लिये केवल अध्वर्यु की आवश्यकता होती है। अग्न्याधेय, दर्शपौर्णमास आदि अन्य सभी इष्टियों के लिये ४ ऋत्विजों का विधान किया गया है। ये अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता एवं ब्रह्मा हैं। चातुर्मास्य याग में उपर्युक्त दर्शपौर्णमास में विहित ४ ऋत्विजों के अतिरिक्त पञ्चम ऋत्विज् प्रतिस्थाता को बताया गया है। पशुयाग में षष्ठम ऋत्विज् मैत्रावरुण तथा सोमयाग के अन्तर्गत सभी १६ ऋत्विजों का विधान है[९]। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सदस्यों का भी उल्लेख आता है किन्तु शतपथ ब्राह्मण में १७वें ऋत्विक् की नियुक्ति को वर्जित माना गया है[१०]। यद्यपि यज्ञ में याज्ञिक कृत्यों के सम्पादनार्थ कुछ

---

[५] अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते। मनुस्मृति २/१४३

[६] आश्वलायन श्रौतसूत्र ४/१/६, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०/१/९

[७] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०/१/९, १२/२४/०६

[८] चत्वारस्त्रिपुरुषाः। आश्वलायन श्रौतसूत्र ४/१/४

[९] बौधायनश्रौतसूत्र २-३, तैत्तिरीयब्राह्मण २/३/६

[१०] शतपथब्राह्मण १०/४/२/१९

अन्य सहायकों का वर्णन भी मिलता है। जैसे- शमिता, चमसाध्वर्यु आदि[११]।

ऋग्वेद में हमें चारों ऋत्विजों के कार्यों का वर्णन मिलता है[१२]। इन चारों ऋत्विजों में भी कर्म की दृष्टि से प्रधान ऋत्विक् ब्रह्मा को माना गया है। यह अनुष्ठेय कर्म की क्रियाशुचिता विधि का निरीक्षक होता है। यज्ञ में इसका स्थान आहवनीय अग्नि के दक्षिण में नियत होता है। जहाँ विराजमान होकर यह सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण किया करता है। इसके गुणों के विषय में चर्चा करते हुए बताया गया है कि- ब्रह्मा वह व्यक्ति होता है जो सभी ऋत्विजों में सबसे अधिक विद्वान् होता है। न केवल सभी ऋत्विजों में अधिक विद्वान् अपितु उसे अपने पद के निर्धारित कर्त्तव्यों के समुचित निर्वाह हेतु वेदत्रयी का आधिकारिक विद्वान् भी होना चाहिये[१३]। कर्मकाण्ड के समय वह अध्यक्ष की भाँति कर्त्तव्य निर्वहन करता हुआ अधिकांशतः मौन ही रहता है। स्तोत्र तथा शस्त्र[१४] आदि गान में भी भाग नहीं ग्रहण करता है। अन्य तीन ऋत्विजों के अपराध (कर्मकाण्ड विधि में न्यूनाधिक्य आदि) का सदा परिहार करता है।

ब्रह्मा शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि बृंह् धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर बृंहेर्नोच्चेति[१५] सूत्र से नकार के अकार एवं ऋकार

---

[११] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १/३/६

[१२] ऋचां त्वः पोषमास्ते............ऋग्वेद १०/७१/११

[१३] शतपथब्राह्मण ११/५/८/७

[१४] प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्, अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्- शबर, जैमिनि ७/२/१७

शस्त्र स्तोत्र का अनुपूरक है तथा उसका पश्चाद्वर्ती है। स्तोत्रमग्रे शस्त्रात्। आ.श्रौ.सू. ५/१०/१

[१५] उणादिसूत्र ४/१४६

का रेफ होने से ब्रह्मन् यह नकारान्त प्रातिपदिक सिद्ध होता है। इसी का प्रथमा एकवचनान्त रूप ब्रह्मा है। निरुक्तकार के अनुसार ब्रह्मा वह है जो सभी विद्याओं का जानने वाला होता है, जो सब कुछ जानने को योग्य है। ब्रह्मा सब ओर से बढा हुआ, वेद से अथवा श्रुत ज्ञान से, सब ओर वृद्धि प्राप्त करता है[१६]। वाचस्पत्यम् में इसका निर्वचन प्रस्तुत करते हुए इसे यज्ञ का भिषक् बताया गया है[१७]। कोशकारों ने ब्रह्मन् शब्द का अर्थ करते हुए इसे स्वयम्भू, परमपिता परमेश्वर, वेद, सत्य, यथार्थ तत्त्व, चित् स्वरूप, हिरण्यगर्भ, विप्र एवं ऋत्विक् विशेष आदि अनेक अर्थों का वाचक सिद्ध किया है।

शाङ्खायन ब्राह्मण ऋग्वेद के उपलब्ध दो ब्राह्मणों में अन्यतम है। इस ब्राह्मण के षष्ठम अध्याय में प्रजापति के कृत्यों के साथ ब्रह्मा के ऋत्विक् स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। इस अध्याय के दसवें खण्ड से प्रजापति के तपःप्रभाव से सृष्टि एवं यज्ञ के विस्तार का अद्भुत विवरण आरम्भ होता है। ब्राह्मण ग्रंथों की अपनी अनुपम शैली है। इसी शैली में ब्राह्मण लिखता है कि प्रजापति ने तप किया और तप के उपरान्त प्राण (श्वास वायु) से इस लोक का विस्तार किया, अपान से अन्तरिक्ष का और व्यान से उस द्युलोक का विस्तार किया[१८]। इससे प्रकृति के अव्यक्त रूप से व्यक्त होने की प्रतीति होती है। पुनः उन्होंने (प्रजापति ने) इन तीनों लोकों को तपाया, क्रमशः - पृथ्वीलोक से अग्नि की, अंतरिक्ष से वायु की तथा द्युलोक से

---

[१६] ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः, ब्रह्मा परिवृढः सर्वतः। निरुक्तम् नैघण्टुक काण्डम् १/३/८ पृ०२६

[१७] यज्ञस्य ह वै भिषग्ब्रह्मेति। वाचस्पत्यम्

[१८] प्रजापतिस्तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं प्राबृहदपानादन्तरिक्षलोकं व्यानादमुं लोकं। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१०

आदित्य की सृष्टि की[१९]। पुनः उन्होंने इन तीनों ज्योतियों को तपाया जिनसे क्रमशः अग्नि से ऋचाओं की, वायु से यजुष् की तथा आदित्य से सामन् की रचना की[२०]। पुनः उन्होंने इस त्रयीविद्या पर तप किया। उन्होंने यज्ञ का विस्तार किया। प्रजापति ने ऋक् से आशंसन (स्तुति) यजुष् से (कर्म) प्रारम्भ किया तथा साम से गायन किया[२१]। उन्होंने इसी त्रयी विद्या के लिए तेज का रस बहाया (संवर्धन किया)। वह इन्हीं वेदों की चिकित्सा के हेतु से किया[२२]।

उन्होंने ऋचाओं को भूः से, यजुषों को भुवः से तथा सामों को स्वः से विकसित किया। इन्हीं तीनों महाव्याहृतियों से वेदत्रयी (ऋक्- यजुष्- साम) विकसित होती है[२३]। यहाँ से दक्षिण दिशा में ब्रह्मा थे। इसी हेतु से यज्ञ दक्षिण में विस्तृत और उत्तर की ओर प्रवण (ढलुआँ) स्थित होता है। जिसका ब्रह्मा ऐसा विद्वान् होता है उसका यज्ञ दक्षिण में विस्तृत और उत्तर में प्रवण (ढलुआँ) होता है[२४]।

---

[१९] स एतान्त्रीँल्लोकानभ्यतप्यत सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजत वायुमन्तरिक्षलोकादादित्यं दिवः। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

[२०] स एतानि त्रीणि ज्योतींष्यभ्यतप्यत सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत वायोर्यजूंष्यादित्यात् सामानि। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

[२१] स एतान्त्रयीविद्यामभ्यतप्यत, स यज्ञमतनुत, स ऋचैवांशसद्यजुषा प्रातरत्साम्नोदगायात्। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

[२२] अथैतस्या एव त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्राबृहदेतेषामेव वेदानां भिषज्यायै। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

[२३] स भूरित्यृचां प्राबृहद्भुव इति यजुषां स्वरिति साम्नाम्। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

[२४] तेन दक्षिणतो ब्रह्माऽऽतीत्तस्य दक्षिणतो वर्षीयानुदीचीनप्रवणो यज्ञः संतस्थे तस्य ह वै दक्षिणतो वर्षीयानुदीचीनप्रवणो यज्ञः संतिष्ठते यस्यैवं विद्वान्ब्रह्मा भवति। शा. ब्रा. ६/१० पृ० ४१

इसके पश्चात् शाङ्खायन ब्राह्मणकार प्रकृत विषय को विस्तार देते हुए कहते हैं कि होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता क्रमशः ऋक्- यजुष् तथा साम विद्याओं के तेज से संवर्धित होते हैं। तब जाकर होता वस्तुतः होता, अध्वर्यु वस्तुतः अध्वर्यु, तथा उद्गाता वस्तुतः उद्गाता हो पाता है[२५]। पुनः ब्रह्मा के विषय में प्रश्न उठाया गया है कि ब्रह्मा वस्तुतः किससे ब्रह्मा होता है[२६]? तब स्वयं समाधान करते हुए ऋषि संकेत करता है कि इसी उपर्युक्त त्रयीविद्या के तेजोरस को संवर्धित करने वाला विद्वान् ज्ञाता होने से ब्रह्मा- ब्रह्मा होता है[२७]। तदनन्तर पिपृच्छा करते हैं कि क्या जानने वाले तथा किस छन्दस् (वेद) के जानने वाले को ब्रह्मा बनाएं। कुछ अध्वर्यु को ब्रह्मा बनाने के लिए कहते हैं क्योंकि वह परिक्रमा के क्षेत्रों को जानता है। कुछ छन्दोग को ब्रह्मा बनाने की व्यवस्था देते हैं क्योंकि उसके हविर्यज्ञ तीनों वेदों से संस्कृत होते हैं[२८]। तथापि नियम यह है कि ब्रह्मा बह्वृच (ऋग्वेदी) होना चाहिये। ऋग्वेद की अन्य दोनों वेदों से प्रधानता स्पष्ट है क्योंकि अन्य दोनों वेद ऋग्वेद के ही परिचरण (सहायक) हैं। होता के पर्याप्त कार्य ऋग्वेद पर निर्भर हैं। ऋचाओं से ही ग्रहों (पात्रों) का ग्रहण होता है। ऋचाओं पर ही साम का गायन होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मा बह्वृच ही हो[२९]।

---

[२५] तदाहुर्यदृचा होता होता भवति यजुषाध्वर्युरध्वर्युः साम्नोद्गातोद्गाता। शा.ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[२६] केनब्रह्मा ब्रह्मा भवतीति? शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[२७] यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्राबृहत्तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति। शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[२८] तदाहुः किंविदं किंछन्दसं ब्रह्माणं वृणीतेत्यध्वर्युमित्येके स परिक्रमाणां क्षेत्रज्ञो भवतीति च्छन्दोगमित्येके तथा हास्यत्रिभिर्वेदैर्हविर्यज्ञाः संस्क्रियन्त इति। शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[२९]बह्वृचमिति त्वेव स्थितमेतत्परिचरणावितरौ वेदावत्र न भूयिष्ठा होत्रा आयत्ता भवन्तीत्यृग्भिर्ग्रहा गृह्यन्त ऋक्षु सामानि गीयन्ते तस्माद् बह्वृच्व एव स्यात्। शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

एतदनन्तर प्रश्न किया गया है कि यज्ञीय-प्रक्रिया में यज्ञ का कितना अंश ब्रह्मा संस्कृत करता है तथा अन्य ऋत्विक् कितना अंश संस्कृत करते हैं। अर्थात् यज्ञीय-प्रक्रिया में ब्रह्मा का क्या महत्व है? उसकी क्या उपयोगिता है? समाधान पक्ष को स्थापित करते हुए ब्राह्मणकार का कथन है कि- आधा[३०]। इस उत्तर को विस्तार देते हुए बताते हैं कि यज्ञ द्विविध प्रकार से संपन्न कराया जाता है। इनमें से पहला आधा भाग वह जो वाणी से संस्कृत होकर संपन्न होता है और दूसरा वह जो मन से संस्कृत किया जाता हुआ संपन्न होता है। इस प्रक्रिया में जो यज्ञ वाणी से संपन्न होता है उसे होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता संपन्न कराते हैं[३१]। इसी के समानान्तर जो आधी प्रक्रिया मन से संपन्न होती है वह ब्रह्मा के द्वारा की जाती है। इस प्रकार यह आधी-आधी प्रक्रिया है। आधी मन की, आधी वाणी की। अत एव ब्राह्मण विधान करता है कि जब तक ऋक्, यजुष् तथा साम से ऋत्विज् मंत्रोच्चारण पूर्वक यज्ञप्रक्रिया का निर्वाह करें। तब तक ब्रह्मा मौन रहकर यज्ञ का निरीक्षण करे क्योंकि वह यज्ञ का आधा करता है[३२]।

ब्राह्मणकार ने न केवल इस विधान को दिया है अपितु इसका निदर्शन भी प्रस्तुत किया है। जब अन्य ऋत्विज् ब्रह्मा से कहें- हे ब्रह्मन्! हम आगे करें, हे ब्रह्मन्! हम प्रारम्भ करें, हे ब्रह्मन्! हम आगे बढें, हे ब्रह्मन्! हम स्तुति करें। तब ब्रह्मा उन ऋत्विजों को केवल एक अक्षरात्मक

---

[३०] तदाहु: कियद्ब्रह्मा यज्ञस्य संस्करोति कियदन्य ऋत्विज इति? अर्धमिति ब्रूयात्। शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[३१] द्वे वै यज्ञस्य वर्तनी वाचाऽन्या संस्क्रियते मनसाऽन्या स या वाचा संस्क्रियते तामन्य ऋत्विज: संस्कुर्वन्ति। शा. ब्रा. ६/११ पृ० ४२

[३२]अथ या मनसा तां ब्रह्मा तस्माद्यावदृचा यजुषा साम्ना कुर्युस्तूष्णीं तावद्ब्रह्माऽऽसीतार्धं हि तद्यज्ञस्य संस्करोति। शा. ब्रा. ६/११ पृ०४२

त्रयीविद्या के प्रतिनिधि स्वरूप 'ओम्' शब्द को कहे[३३]। ब्रह्मा विद्या का प्रेरक है। यज्ञ ब्रह्मा में ही प्रतिष्ठित होता है। यज्ञगत दोषों को ब्रह्मा से कहते हैं। ब्रह्मा त्रयीविद्या का ज्ञाता होने से, त्रयीविद्या के द्वारा ही उस दोष की चिकित्सा (निदान) करता है[३४]।

यहाँ शाङ्खायन ब्राह्मण में यह भी निदर्शित किया गया है कि यज्ञीय-प्रक्रिया में त्रुटि होने पर ब्रह्मा उसका निदान किस प्रकार करता है। यदि ऋक् सम्बन्धी च्युति (भूल) होती है तो ब्रह्मा गार्हपत्य अग्नि में घृत को चार भागों में लेकर 'भूः स्वाहा' कहकर आहुति दे। इस क्रिया से ब्रह्मा ऋचा को ऋचा में स्थापित करता है। ऋचा से ऋचा में प्रायश्चित्त करता है। इसी प्रकार यदि यजुष् में कोई च्युति होती है तो आज्य (घृत) को चार भागों में लेकर हविर्यज्ञ-आग्नीध्र की स्थिति में 'भुवः स्वाहा' से अन्वाहार्य वचन में आहुति दे तथा साम सम्बन्धी दोष होने पर ब्रह्मा आहवनीय अग्नि में पूर्ववत् चतुर्धा विभक्त आज्य की आहुतियां प्रदान करे। इससे यजुष् को यजुष् में तथा साम को साम में स्थापित करता है और इसी प्रकार से यजुष् से यजुष् में तथा साम से साम में प्रायश्चित्त करता है[३५]। एतदतिरिक्त किसी भी प्रकार

---

[३३] अथ यत्रैनं ब्रूयुर्ब्रह्मन्प्रणेष्यामो ब्रह्मन्प्र च तरिष्यामो ब्रह्मन्प्रस्थास्यामो ब्रह्मन्स्तोष्याम इत्यो३मित्येतावता प्रसूयादेतद्ध वा एकमक्षरं त्रयीं विद्यां प्रति। शा. ब्रा. ६/१२ पृ०४३

[३४] तथा हास्य त्रय्या विद्यया प्रसूतं भवति ब्रह्मणि वै यज्ञः प्रतिष्ठितो यद्वै यज्ञस्य स्खलितं बोल्वणं वा भवति ब्रह्मण एव तत्प्राहुस्तस्य त्रय्या विद्यया भिषज्यति। शा. ब्रा. ६/१२ पृ०४३

[३५] अथ यद्यृच्युल्बणं स्याच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा गार्हपत्ये प्रायश्चित्ताहुतिं जुहुयाद्भूः स्वाहेति तद्दचमृचि दधात्यृचर्चि प्रायश्चित्तिं करोति, अथ यदि यजुष्युल्बणं स्याच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽन्वाहार्यपचने प्रायश्चित्ताहुतिं जुहुयाद्धविर्यज्ञ आग्नीध्रीये सौम्येऽध्वरे भुवः स्वाहेति तद्यजुर्यजुषि दधाति यजुषा यजुषि प्रायश्चित्ताहुतिं करोति, अथ यदि साम्न्युल्बणं स्याच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहवनीये प्रायश्चित्ताहुतिं जुहुयात्स्वः स्वाहेति तत्साम साम्नि दधाति साम्ना साम्नि प्रायश्चित्तिं करोति। शा. ब्रा. ६/१२ पृ०४३

का अज्ञात दोष हो तो पूर्ववत् तीनों व्याहृतियों को एक साथ 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' उच्चारण करते हुए चतुर्धा विभक्त आज्य से आहवनीय अग्नि में आहुति दे। इस प्रकार कर्त्तव्य का निर्वाह करता हुआ वह ब्रह्मा प्रायश्चित्त करके अपूर्ण को पूर्ण करता है[३६]। इन व्याहृतियों को जो जानता है, वह सब कुछ जानता है। जैसे किसी काष्ठ का चर्ममय कोई आवेष्टन होता है उसी प्रकार ये महाव्याहृतियाँ त्रयीविद्या को आवेष्ठित किए रहती हैं। अत एव ब्रह्मा को इन व्याहृतियों का ज्ञाता होना चाहिए[३७]।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ ऋत्विक् ब्रह्मा के गुणों, विशेषताओं और कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए ऋत्विजों में श्रेष्ठ ब्रह्मा का स्वरूप प्रतिपादित करता है। यज्ञ चूंकि संगतिकरण कारक हैं अतः यज्ञीय कर्मकाण्डों के आधार पर होने वाले सामाजिक कार्यों में भी इसी प्रकार की संगति देखने योग्य होती है जहाँ अन्य सभी कार्यकर्त्ताओं के साथ एक गणमुख्य, मानसिक रूप से कार्य की सिद्धि के लिये निरन्तर समानान्तर निरत रहता है। जब अन्य सभी गण उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वाणी से शाब्दिक कार्य कर रहे होते हैं वहीं उनके समानान्तर गणमुख्य निरन्तर मनसा चिन्तनरत रहता है सम्भवतः ब्राह्मण ग्रन्थ इसी ब्रह्मा की ओर संकेत करना चाहता है।

---

[३६] अथ यद्यविज्ञातमुल्बणं स्याच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहवनीय एव प्रायश्चित्ताहुतिं जुहुयाद्भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्येष ह वै यज्ञस्य व्यृद्धं समर्धयति य एताभिर्व्याहृतिभिः प्रायश्चित्तिं करोति। शा. ब्रा. ६/१२ पृ०४३

[३७] न ह वा उपसृतो ब्रूयान्नाहमेतद्वेदेत्येता व्याहृतीर्विद्वान्सर्वं ह वा उ स वेद य एता व्याहृतीर्वेद तद्यथा ह वै दारुणः श्लेष्मसंश्लेषणं स्यात्परिचर्मण्यं वैवमेवैता व्याहृतस्त्रय्यै विद्यायै संश्लेषण्यः। शा. ब्रा. ६/१२ पृ०४३

यूपमीमांसा - कौषीतकि ब्राह्मण के सन्दर्भ में

डा० नन्दिनी रघुवंशी[1]

इस चराचर जगत् को प्रेरित करने वाली समस्त शक्तियाँ यज्ञ से ही निष्पन्न होती हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यज्ञ कर्मकाण्डमात्र न होकर समस्त सृष्टिचक्र का निदर्शन है। यज्ञ ही एक ऐसा केन्द्रबिन्दु है जिसमें चराचर जगत् की समस्त क्रियाएँ परिलक्षित होती हैं। पृथ्वी के प्राकृतिक देवता स्थूलतत्त्वादि यदि यज्ञमयी प्रवृत्ति से परस्पर यजन न करें तो किसी का भी अस्तित्व ना रहे। यदि सूर्य समुद्र से वाष्पीकृत जल का ग्रहण ना करे तो मेघ की उत्पत्ति असम्भव हो जाएगी और बिना मेघ की उत्पत्ति के पृथ्वी बन्ध्या हो जाएगी। इसी तरह समग्र पृथ्वी यज्ञ के आधार से ही टिकी हुई है।

यज्ञ भौतिक आधार मात्र नहीं है अपितु यह एक भावनात्मक आधार भी है। मन की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ यज्ञ से प्रेरित होती हैं, जो मानव जीवन को सर्वथा और सार्वकालिक रूप से प्रेरित करती हैं। यज्ञ हमें न केवल दान अपितु संतुलित जीवन जीने के लिए भी प्रेरित करते हैं। यज्ञ के प्रतीक ही हैं जो हमें यह सभी शिक्षाएँ देते हैं। यज्ञ संसार का सर्वश्रेष्ठ गुरु है, जो

[1] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा**

अशारीरिक होते हुए भी अपने प्रतीकों के माध्यम से उत्तम जीवन के मन्त्र बता देता है।

विविध प्रकार के यज्ञ विविध प्रकार के अपने प्रतीकों से एक ओर जहाँ हमारे जीवन से जुड़े विविध बिंदुओं पर प्रकाश डालते हैं, वहीं इस संसार के प्रणय से लेकर पालन तक की प्रक्रिया को साक्षात् दर्शाते भी हैं। सृष्टि में यज्ञ का सर्वाधिक महत्त्व इससे भी प्रख्यापित होता है कि हमारे वैदिक साहित्य में प्रायः सभी ग्रन्थों का आधार यज्ञ है।

यज्ञो बभूव स आ बभूव (अथर्व ७/५/२)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (ऋ. १०/९०/१५)

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत (यजु. ३१/२४)

इयं ते यज्ञिया तनूः (यजु. ४/१३)

ऐसे कितने ही ग्रन्थों का अवलोकन कर लें, सर्वत्र यज्ञ की ही प्रधानता है। यज्ञ भित्तिस्वरूप है तथा अन्य ग्रन्थ उसमें लिखित चित्रादि प्रसाधन सामग्री। इसीलिए चारों वेदों में भी यजुर्वेद प्रधानत्व को प्राप्त करता है। यजुर्वेद कर्मकांड प्रधान वेद है क्योंकि यजुषों से ही यज्ञ सम्पन्न होता है। निरुक्त में भी कहा गया है- **यजुष्येनं नयन्तीति वा।**

यज्ञपरक इन मन्त्रों के विनियोगकारक ग्रन्थ ब्राह्मण होते हैं, जिनमें यज्ञ की विधि फल आदि विस्तार से वर्णित की जाती है। यज्ञ सम्बन्धी ऋचा स्तोमों की विशद व्याख्या उनके प्रयोग की विधि तथा साक्षात् हमारे जीवन से उनका क्या सम्बन्ध है? यह कार्य ब्राह्मण ग्रन्थों का है। प्रत्येक वेद का अपना पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ होता है। प्रस्तुत शोध पत्र में हम कौषीतकि ब्राह्मण के सन्दर्भ में यूपमीमांसा का अध्ययन करेंगे। कौषीतकि ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बद्ध है जिसमें ऋचाओं की व्याख्या करते हुए पशुयाग की विस्तृत चर्चा की गई है। त्रिंशत् अध्याय के इस ब्राह्मण में विविध इष्टियाँ

तथा उनकी विधि का भी वर्णन है। यज्ञ में प्रयुक्त सभी प्रमुख क्रियाओं के साथ यूपमीमांसा का विशद् विवेचन मिलता है।

कौषीतकि ब्राह्मण के दशम अध्याय में यूपमीमांसा का प्रसंग है जिसमें यूप की बाह्य आकृति से लेकर उससे प्राप्त होने वाली फल प्राप्ति तक का वर्णन है।

श्रौतयाग सृष्टि यज्ञ के निरूपक तथा पशुयाग सृष्टियज्ञ के रूपक हैं। पशुयाग के द्रव्य दो प्रकार के हैं, ग्रामीण और अरण्य। पशुयाग की व्यवस्था के अनुसार अरण्य पशुओं को मारा नहीं जाता, पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया जाता है। यद्यपि ग्राम्य पशुओं को मारकर होम किया जाता था तथापि यह विधि नवीन है। पशुयाग में यूप का प्रयोग पशुबन्ध के लिए होता था।

यूप महत्त्व- '**वज्रो वा एष यद्यूपः**' अर्थात् यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला यूप वज्र समान है। जैसे वज्र ने महाशक्तिशाली वृत्रासुर का वध किया उसी प्रकार यह यूप यज्ञ में उत्पन्न होने वाली विविध बाधाओं का शमन करे। पशुयाग में प्रयुक्त यूप हमें जीवन में स्थिर दृढ़ तथा पापों का नाश करने की प्रेरणा देता है, अतः इस पर चर्चा करना अति आवश्यक है। यह यूप मर्त्य और अमर्त्य लोक के मध्य की सोपान श्रृंखला है। यज्ञ का अतिविशेष प्रतीक होने के कारण इसकी निर्माण विधि स्थापन विधि भी विशेष ध्यातव्य है।

कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है- '**पालाशं ब्रह्मवर्चसकामः कुर्वीत बैल्वमन्नादिकामः खादिरं स्वर्गकामः**' अर्थात् ब्रह्मतेज की कामना वाला पलाश का, अन्न भोजन की कामना वाला बिल्व का और स्वर्ग की कामना वाला खदिर का यूप बनावे। इस प्रकार कौषीतकि के अनुसार पलाश बिल और खजूर का यूप बनाया जाए। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यही तीन

यूपयोग्य वृक्ष हैं। परन्तु षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार पुष्टि की इच्छा वाले को पलाश का, ब्रह्मवर्चस् की कामना वाले को बिल्व का, भोजन की कामना वाले को उदुम्बर का, बल की कामनार्थ खदिर का, शत्रुदमन के लिए यज्ञानुरूप काष्ठ का यूप होना चाहिए।

वृक्षाः द्विविधा यूप्या अयूप्याश्च। पलाशखदिरो यूप्याः। निम्बजम्बीरादयस्त्वयूप्याः (तै.सं. १/३/५)। निर्दिष्ट काष्ठ के भी दोष युक्त होने पर वह यूप के अयोग्य है। जैसे गाँठदार, फटे हुए, बाँए को झुके हुए, कटे हुए, घूमे हुए, लोचदार, नोंकदार, जले हुए, सूखे और भुने हुए वृक्षों के यूपों का प्रयोग ना करें। इस प्रकार यूपनिर्माण के लिए उत्तमोत्तम काष्ठ का प्रयोग करना चाहिए जिससे उसका पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो।

यूप-परिमाण- यूपपरिमाण के विषय में कौषीतकि ब्राह्मण में स्वेच्छानुसार पर्याप्त विकल्प हैं। यूप परिमाण को मापने की इकाई प्रायः सर्वत्र अरत्नि को रखा गया है।

'**त्र्यरत्नि स्याल्लोकानां रूपेण चतुररत्निः पशूनां रूपेण पञ्चारत्निः पङ्क्त्यै रूपेण षडरत्निर्ऋतूनां रूपेण सप्तारत्निश्छन्दसां रूपेण अष्टारत्निर्गायत्र्यै रूपेण नवारत्निर्बृहत्यै रूपेण दशारत्निर्विराजो रूपेण एकादशारत्निस्त्रिष्टुभ् रूपेण द्वादशारत्निर्जगत्यै रूपेणैतामात्रा सम्पदो यूपस्य तासामेकां संपरमभिसम्पाद्य यूपं कुर्वीत**'(कौ.ब्रा. अध्याय १०)। अर्थात् तीन लोकों के प्रतीक के रूप में तीन अरत्नि पशुओं (चतुष्पदों) के प्रतीक के रूप में चार, पंक्ति के प्रतीक के रूप में पाँच, ऋतुओं के प्रतीक के रूप में छः, छन्दों के प्रतीक के रूप में सात, गायत्री के प्रतीक के रूप में आठ, बृहती के प्रतीक के रूप में नौ, विराज के प्रतीक के रूप में दश, तथा जगती के प्रतीक के रूप में बारह अरत्नि के यूप का विधान है।

यूप के परिणाम के सन्दर्भ में सभी शास्त्रों के मत भिन्न भिन्न हैं।

शतपथ ब्राह्मण में पाँच, छः, आठ, नौ, ग्यारह, बारह, तेरह, पन्द्रह अरत्नि लम्बे यूप का वर्णन है। आचार्य कात्यायन ने सात दस तथा चौदह अरत्निक यूप का निषेध किया है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में मतवैभिन्य है परन्तु एक समाधानात्मक टिप्पणी कौषीतकि ब्राह्मण में उपलब्ध है। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार- **तदु वा आहुर्न मिमेद्यूपमपरिमित एव स्यान्मितं ह वै मितेन जयत्यमितममितेनापरिमित एव।** अर्थात् वे कहते हैं यूप को न मापे यह अपरिमित ही हो। उनका यह भी कथन है कि परिमाणमात्र पर ध्यान ना देकर जो परिमाण मन को उचित लगे उसे ग्रहण करें क्योंकि मन का संतुष्ट होना अति आवश्यक है। मन प्रजापति है और प्रजापति यज्ञ है। जब यह संयुक्त हो तब यज्ञ में आनन्द होता है। अतः अपरिमित यूप ये भी एक सम्भावना है। इस प्रकार यूप का परिमाण चाहे जो भी हो उसमें श्रद्धा और विश्वास का होना अधिक आवश्यक है। उसी से ही मन यज्ञ से संयुक्त होता है। लम्बाई के अनुसार यूप की स्थूलता ग्रहण की जानी चाहिए अथवा काष्ठ की सुलभता से भी कार्य कर सकते हैं यूप का अग्रभाग किञ्चित् कृश होना चाहिए। यूप को तक्षण के द्वारा कोनों से युक्त कर लेना चाहिए जिनकी संख्या आठ बताई गई है।

यूपस्थापन एवं पूजन- यूपनिर्माण के अनन्तर विविध चरणों में यूपस्थापन की प्रक्रिया होती है जो कि क्रमशः यूपोच्छ्रयण यूपप्रोक्षण यूपाञ्जन तथा यूपपरिव्ययण हैं। यूप के स्थापन के लिए भूमि शुद्ध करके गड्ढा खोदकर यूप को उठाकर मन्त्रपाठ करते हुए उसमें स्थापित करने तक की प्रक्रिया यूपोच्छ्रयण कहलाती है।' **द्यामग्रेणास्पृक्ष अन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणामहीः**' (वा, सं. ६/२) इस मन्त्र के साथ यूप को उठाते हैं। तदनन्तर निम्न मन्त्र के साथ गड्ढे में उसकी स्थापना करते हैं-

या ते धामानि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगाः अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि॥

(वा.सं. ६/३)

यूपोच्छ्रयण के पश्चात् यूपप्रोक्षण में '**यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः**' (वा. सं. ६/१) इस मन्त्र से यवयुक्त जल से उस स्तम्भ का प्रोक्षण किया जाता है। तदनन्तर '**अञ्जन्ति वामध्वरे देवयन्तः**'(३/८/१) उक्त मन्त्र के साथ यूप का अञ्जन कर्म किया जाता है। यूप के अग्रभाग को छोड़कर शेष भाग पर अञ्जन लगाने का निर्देश प्राप्त होता है। अन्त में-

युवा सुवासाः परिवात आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति स्वाध्या मनसा देवयन्तः॥

(ऋ. ३/८/४)

इस मन्त्र के साथ हूँ व्यामत्रय परिमाण वाली कुशा की रस्सी के तीन लपेटे यूप पर लगाए जाते हैं। इस प्रकार यूपस्थापन एवं पूजन के पश्चात् यज्ञविधि का प्रारम्भ किया जाता है। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार यूप यजमान का प्रतीक है-

'**यजमानो वा एष यद्यूपः स्वर्गो लोक आहवनीयः, तदेनं स्वर्गं लोकं गमयति, तत्स्वर्ग्यमिति।**' यूप यजमान है, आहवनाय स्वर्ग है। इस प्रकार उसे वे स्वर्ग लोक में भेजते हैं क्योंकि वह स्वर्गीय है। इस विषय में कौषीतकि कहते हैं कि यह यूप स्थिर खड़ा रहे क्योंकि इस रूप में यह स्वः का ईश्वरीय स्थान है। यदि वह स्थिर ना रहे तो असुर और राक्षस इनका पान करेंगे। अतः यह यूप यज्ञीय स्थान पर वज्र के रूप में स्थिर रहे और असुरों तथा राक्षसों को प्रतीक बनकर विनष्ट करे। यज्ञ और यजमान की रक्षा करे।

उपसंहार- इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेष यागों में यूप का स्थान

अति महत्त्वपूर्ण है। यह यूप भौतिक और अभौतिक दोनों ही रूपों में यजमान को सम्बल और प्रेरणा प्रदान करते हैं। भावनात्मक रूप से स्थिर और दृढ बने रहने की प्रेरणा देते हैं। यही हमारी संस्कृति की विशेषता है कि इसमें मनुष्य को सभी प्राकृतिक तत्त्वों से जोड़ते हुए भी स्वयं में व्यक्तिगत रूप से जुड़े रहने की संकल्पना सिखाई जाती है। प्राचीनकाल से इन परम्पराओं और रीतियों को सहेज कर रखना हमारा स्वभाव है। प्रथमदृष्ट्या कौषीतकि ब्राह्मण में यूप के अध्ययन से लग सकता है कि यह सब चर्चाएँ अब उतनी प्रासंगिक नहीं रहीं जितनी तब हुआ करती थी परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करें तो वे सभी व्यवस्थाएँ किञ्चित् रूप परिवर्तन के साथ आज भी उपलब्ध हैं। ध्यातव्य है कि विवाह के अवसर पर प्रचलित मढा गाढना इसी यूपस्थापन का परिवर्तित रूप है। वेदों के अनध्याय के कारण लोग ऐसी लोक परंपराओं के मूल तक नहीं पहुंच पाते, पर फिर भी किसी न किसी रूप में हम आज भी उनसे जुड़े हुए हैं। अतः आवश्यकता है कि हम पुनः अपने प्राचीन ग्रन्थों को समझ कर अपनी इन लोक परम्पराओं को विशुद्ध कर पुनः उन्ही सांस्कृतिक मूल्यों व आदर्शों की स्थापना करें यही इस पत्र का उद्देश्य है।

शाङ्खायन ब्राह्मण में ब्रह्मतत्त्व का स्वरूप

डा० सुमित कुमार[१]

शांखायन ब्राह्मण के षष्ठ अध्याय में ब्रह्मतत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजा की कामना से प्रजापति ने तप किया। उनके तप से अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और उषा यह पाँच उनसे उत्पन्न हुए।[२] प्रजापति ने इन पाँचों से कहा आप भी तप कीजिए। उन्होंने प्रजापति से दीक्षा ग्रहण की और दीक्षित होकर तप करने लगे। तप करने के पश्चात् प्रजापति के पास आए और उनसे कहा मुझे नाम दीजिए, बिना नाम रखें इस विहित अन्न को मैं नहीं खा सकता। तब प्रजापति ने कहा तुम भव हो क्योंकि जल भव है अतः भव उन्हें, उनकी सन्तानों को, उनके पशुओं को और जो अपने को भव का बताता है वह उसको कष्ट नहीं देते। जो उनसे द्वेष करता है वह पापी होता है और जो ऐसा जानता है वह पापी नहीं होता। इसका व्रत है आर्द्रवस्त्र धारण करें।[३] पुनः वह प्रजापति के पास आये और कहा -आप

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, जी०बी० पन्त डिग्री कॉलेज कछला, बदायूँ**

[२] प्रजापतिः प्रजापतिकामस्तपोऽतप्यत्तस्मात् तप्तात्याञ्चाजायन्ताग्निर्वयुरादित्यश्चंद्रमा उषाः पञ्चमी। ।- शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१

[३] स प्रजापतिं पितरमभ्यायच्छत्तमब्रवीत्कथा माऽभ्यायायच्छसीति............ वेद तस्य व्रतमार्द्रमेव वासः परिदधीतेति || शांखायन ब्राह्मण ६/२

मुझे दूसरा नाम दीजिए। एक नाम से इस अन्न को मैं नहीं खा सकता। उन्होंने कहा तुम शर्व हो क्योंकि अग्नि शर्व है। अतः शर्व उसकी या उसकी संतानों की या उसके पशुओं की या जो कोई अपने को उनका मानता है उसकी क्षति नहीं करते। और जो उनसे द्वेष करता है वह पापी होता है और जो ऐसा जानता है वह नहीं। इसका नियम है सभी (शर्व) नहीं खाना चाहिए।[४] तीसरी बार पुनः पिता के पास गए और कहा इन दोनों नामों से इस विहित अन्न को मैं नहीं खा सकता मेरा तीसरा नाम दीजिए। उन्होंने कहा तुम पशुपति हो क्योंकि वायु पशुपति है। अतः इसे, इसकी प्रजा को, इसके पशुओं को या और कोई इसका अपने को बताता है पशुपति हिंसित नहीं करते। जो द्वेष करता है वह पापी और जो ऐसा जानता है वह नहीं इसका व्रत है ब्राह्मण की निंदा ना करें।[५] पुनः चौथी बार उनके पास गये और कहा मेरा चौथा नाम कीजिए इन तीन नामों से मैं इस अन्न का भक्षण नहीं कर सकता। प्रजापति ने कहा तुम उग्रदेव हो क्योंकि उग्रदेव औषधियां और वनस्पतियां हैं। अतः इसको, इसकी प्रजा को, इसके पशुओं को या जो कोई अपने को इसका बताता है उग्रदेव उसको हिंसित नहीं करते। जो इससे द्वेष करता है वह पापी और जो ऐसा जानता है वह नहीं। इसका व्रत है स्त्री के छिद्र विवर को नहीं देखना।[६] वह पाँचवी बार प्रजापति के पास पहुंचा और कहां- मेरा पाँचवा नाम कीजिए इन चार नामों से इस विहित अन्न को नहीं खा सकता। उन्होंने कहा तुम महान् देव (महादेव) हो। क्योंकि महादेव आदित्य हैं। इसलिए इसको, इसकी प्रजा को, इसके पशुओं को या और कोई जो इसको अपना बताता है महादेव हिंसित नहीं

---

[४] शाङ्खायन ब्राह्मण ६/३

[५] तं तृतीयमभ्यायच्छत्तमब्रवीत्कथा............. न परिवदेदिति। । शाङ्खायन ब्राह्मण ६/४

[६] शाङ्खायन ब्राह्मण॥ ६|५

करते। जो इससे द्वेष करता है वह पापी जो ऐसा जानता है वह नहीं। आदित्य का व्रत है कि इसको (आदित्य को) उदित होते हुए और अस्त होते हुए नहीं देखना चाहिए।[७] पुनः छठी बार उनके पास गया और बोला कि इन पाँच नामों से इस अन्न को मैं नहीं खा सकता मेरा छठा नाम कीजिए। प्रजापति ने कहा तुम रुद्र हो क्योंकि रुद्र चंद्रमा है। अतः वह रुद्र चंद्रमा को, इसकी प्रजा को, इसके पशुओं को या जो कोई भी अपने को इसका बताता है रुद्र उसको हिंसित नहीं करते। जो इससे (रुद्र से) द्वेष रखता है वह पापी और जो ऐसा जानता है वह पापी नहीं। इसका नियम है जो भी विमूर्त है या मज्जान (संकीर्ण) है उसे ना खाये। पुनः सातवीं बार वह प्रजापति के पास गया और कहा कि इस अन्न को मै इन छः नामों से नहीं खा सकता आप मेरा सातवाँ नाम कीजिए। तब उन्होंने कहा तुम ईशान हो क्योंकि ईशान अन्न है। अतः उसे, उसकी प्रजा को, उसके पशुओं को या जो कोई उसका अपने को कहता है ईशान हिंसित नहीं करते। जो इससे द्वेष करता है वह पापी होता है जो ऐसा जानता है वह नहीं। इसका व्रत है अन्न की कामना करने वालों का प्रत्याख्यान ना करें। फिर से आठवीं बार उनके (प्रजापति के) पास गया और उनसे कहा मेरा आठवां नाम करिये। सात नामों से इस अन्न को मैं नहीं खा सकता। उन्होंने कहा तुम अशनि हो। क्योंकि इन्द्र अशनि है। अतः इसे, इसकी प्रजा को, इसके पशुओं को या जो कोई अपने को इसका कहता है अशनि हिंसित नहीं करता। जो इससे द्वेष करता है वह पापी होता है जो ऐसा जानता है वह नहीं। इसका नियम है सत्य बोलें और स्वर्ग धारण करें। इस प्रकार यह महादेव अष्ट नामों वाले तथा आठ प्रकार से विभक्त हैं। जो ऐसा जानता है उसकी प्रजा आठ

---

[७] तं पञ्चमभ्यायच्छत्तमब्रवीत्कथा...
.... नेक्षेतास्तं यन्तं चेति। । शाङ्खायन ब्राह्मण ६/६

पीढ़ियों तक अन्न खाती है और इसकी प्रजा में सदैव तेजस्वी उत्पन्न होते हैं।[८]

प्रजापति ने तप किया उन्होंने तप करके प्राण (श्वास वायु) से इस भूलोक का विस्तार किया, अपान से अंतरिक्ष का और व्यान से द्युलोक का विस्तार किया।[९] फिर उन्होंने इन तीनों लोकों के ऊपर तप किया। भूलोक से अग्नि की सृष्टि की, अंतरिक्ष लोक से वायु की और द्युलोक से आदित्य की सृष्टि की।[१०] फिर उन्होंने इन तीन ज्योतियों के ऊपर तप किया। उन्होंने अग्नि से ही ऋचाओं की सृष्टि की, वायु से यजुष् की और आदित्य से सामन् की सृष्टि की।[११] पुनः उन्होंने इस त्रयी विद्या के ऊपर तप किया। जिससे उन्होंने यज्ञ का विस्तार किया। उन्होंने ऋक् से (आशंसन) पाठ किया, यजुष् से प्रारम्भ किया, सामन् से गायन किया। इस त्रयीविद्या के तेजस् का रस उन्होंने इन वेद के ही चिकित्सा (स्वास्थ्य -भिषज्या) के लिए तैयार किया।[१२] उन्होंने ऋचाओं का भूः, यजुषों का भुवः और सामों का स्वः विकसित किया। १३ यज्ञ की दक्षिण दिशा में ब्रह्मा थे जिससे यज्ञ दक्षिण दिशा में विस्तृत और उत्तर की ओर प्रणव हुआ। जिसका ब्रह्मा ऐसा विद्वान् होता है

---

[८] स एषोऽष्टनामाऽष्टधाविहितो महान्देव आह वा अस्याष्टमात्पुरुषाप्रजाऽन्नमत्ति। शा. ब्रा. ६/९

[९] प्रजापतिस्तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं प्राब्रहद्पानादन्तरिक्षलोकं व्यानादमुं लोकम्। शांखायन ब्राह्मण ६/१०

[१०] सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजत वायुमन्तरिक्षलोकादादित्यं दिवः। -तदैव

[११] स एतानि त्रीणि ज्योतीष्यभ्यतप्यत सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत वायोर्यजूष्यादित्यात्सामानि।- तदैव

[१२] स ऋचैवाशंसद्यजुषः प्रातरात्साम्नोदगायदथैतस्या एव त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्राबृहदेतेषामेव वेदानां भिषज्यायै॥-तदैव

[१३] स भूरित्यृचां प्राबृहद्भुव इति यजुषां स्वरिति साम्नां। ।-तदैव

उसका यज्ञ दक्षिण में विस्तृत उत्तर में ढलवा होता है।[१४]

शाङ्खायन ब्राह्मण के षष्ठ अध्याय के ग्यारहवें खण्ड में कहा है- कि ऋक् से होता 'होता' होता है। यजुष् से अध्वर्यु 'अध्वर्यु 'होता है साम से उद्गाता 'उद्गाता' होता है तो किससे ब्रह्मा 'ब्रह्मा' होता है।[१५] तो वे कहते हैं कि जिसने इस त्रयी विद्या से तेजस् के रस को वर्धित किया है उससे ब्रह्मा 'ब्रह्मा' होता है।[१६] फिर वे कहते हैं क्या जानने वाले तथा किस छन्द वाले को ब्रह्मा बनाएं। कुछ कहते हैं अध्वर्यु को क्योंकि वह परिक्रमा के स्थानों को जानता है कुछ कहते हैं छंदों को क्योंकि उसके हविर्यज्ञ तीनों वेदों से संस्कृत होते हैं। तथापि नियम यह है कि ब्रह्मा ऋग्वेद हो[१७] क्योंकि अन्य दो वेद इसके परिचरण (सहायक) हैं। ब्रह्मा पर होता के कर्म बहुशः निर्भर हैं। ऋचाओं से ही पात्रों का ग्रहण होता है ऋचाओं पर ही साम का गायन होता है। अतः वह्वृच् (ऋग्वेदी) ही ब्रह्मा हो। आगे पूछते हैं कि यज्ञ का कितना अंश ब्रह्मा संस्कृत करता है और कितना अन्य ऋत्विक् ? प्रजापति कहते हैं- 'आधा'। यज्ञ के दो मार्ग (वर्तनी) हैं एक वाणी से संस्कृत किया जाता है दूसरा मन से संस्कृत किया जाता है। जो वाणी से किया जाता है उसे अन्य ऋत्विक् संस्कृत करते हैं। और जो मन से किया जाता है उसे

---

[१४] तेन दक्षिणतो ब्रह्मऽऽतीत्तस्य दक्षिणतो वर्षीयानुदीचनप्रवणो यज्ञः संतस्थे तस्य ह वै दक्षिणतो वर्षीयानुदीचीन प्रवणो यज्ञः संतिष्ठते यस्यैव विद्वान्ब्रह्मा भवति। शा. ब्रा. ८/१०

[१५] तदाहुर्यदृचा होता होता भवति यजुषाऽध्वर्युः साम्नोद्गातोद्गाता केन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/११

[१६] त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्राबृहत्तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति। तदैव

[१७] बह्वृचमिति। तदैव

ब्रह्मा करता है।[१८] अतः जब तक ऋक्, यजुष् और सामन् से वे करें तब तक ब्रह्मा चुप बैठे क्योंकि वह यज्ञ का आधा भाग करता है। जब अन्य ऋत्विक् यज्ञ का आधा भाग पूर्ण करके उससे (ब्रह्मा) से कहें -हे ब्रह्मन्! हम आगे बढ़ें, हम स्तुति करें। तो वह उनसे केवल 'ओम्' कहे। यह एक अक्षर त्रयी विद्या का प्रतिनिधि है।[१९] अतः उसके द्वारा त्रयी विद्या से प्रेरणा दी गई है। ब्रह्मा में ही यज्ञ प्रतिष्ठित है।[२०] यज्ञ में ही जो कुछ स्खलित (च्युत) या अधिक उल्वण (दोषयुक्त) हो उसे ब्रह्मा से कहें क्योंकि वह उसकी त्रयीविद्या से चिकित्सा करता है।[२१] यदि ऋचा में कुछ दोषयुक्त हुआ है तो वह आज्य (घृत) को चार भागो में लेकर 'भूः स्वाहा' से गार्हपत्य अग्नि में प्रायश्चित आहुति दें। इससे वह ऋचा में ऋचा को स्थापित करता है ऋचा से ऋचा में प्रायश्चित करता है। और यदि यजुष् मे दोष हुआ है तो आज्य को चार भागों में लेकर हविर्यज्ञ की स्थिति में 'भुवः स्वाहा' से अन्वाहार्य वचन में आहुति दे। और सोम यज्ञ में आग्नीध्र अग्नि में आहुति दे। इससे वह यजुष् को यजुष् में स्थापित करता है और यजुष् से यजुष् में प्रायश्चित करता है। यदि साम में उल्वण हुआ तो चार आज्य भाग लेकर

---

[१८] द्वे वै यज्ञस्य वर्तनी वाचाऽन्या संस्क्रियते मनसाऽन्या स या वाचा संस्क्रियते तामन्य ऋत्विज: संस्कुर्वन्त्यथ या मनसां तां ब्रह्मा। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/११

[१९] अथ यत्रैन ब्रूयुर्ब्रह्मन्प्रणेष्यामो ब्रह्मन्प्र च तरिष्यामो ब्रह्मन्प्रस्थास्यामो ब्रह्मन्तोष्याम इत्यो३मित्येतावता प्रसूयादेतद्ध वा एकमक्षरं त्रयी विद्या प्रति। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१२

[२०] वै यज्ञ: प्रतिष्ठतो। तदैव

[२१] यद्वै यज्ञस्य स्खलितं वोल्वणम् भवति ब्रह्मण एव तत्प्राहुस्तस्य त्रय्या विद्या भिषज्यत्यथ। तदैव

आह्वानीय में 'स्वः स्वाहा' से प्रायश्चित आहुति का हवन करे। इस प्रकार वह साम में साम से प्रायश्चित करता है साम को साम में स्थापित करता है।[२२] और यदि कोई अज्ञात दोष हो तो चार भागों में आज्य लेकर 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इससे आह्वनीय में ही प्रायश्चिताहुति का हवन करें। जो इन व्याहृतियों से प्रायश्चित्ति को करता है, वह अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण करता है।[२३] जो इन व्याहृतियों को जानता है वह निश्चय ही सब कुछ जानता है। जैसे काष्ठ का रस्सी या चर्मतन्तु का आवेष्टन हो उसी प्रकार से व्याहृतियाँ त्रयी विद्या के लिए आवेष्टन हैं।[२४]

आगे बताते हैं कि जो ब्रह्मसदन से तृण को हटाता है तो इस प्रकार निश्चय ही इसे वह शुद्ध करता है। तदन्तर वह अर्वावसु के स्थान पर "मैं अर्वावसु के सदस् (स्थान) पर बैठता हूं कहकर बैठता है।[२५] अर्वावसु देवों के ब्रह्मा हैं। इस प्रकार वह उससे यह कहते हुए कि 'निर्विघ्न यज्ञ चले' बैठता है। बैठकर वह जप करता है- 'बृहस्पति देवों के ब्रह्मा हैं।[२६] इस प्रकार वह उनसे अनुमति लेना चाहता है। 'प्रणीता' जलों के ले आते समय जब तक 'हविष्कृत' शब्द का जोर से उच्चारण नहीं होता वह वाणी का यमन करता

---

[२२] यद्ध्यृच्युलवणं स्याच्चतुगृहीतमाज्यं................साम्ना साम्नि प्रायश्चिति करोति। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१२

[२३] यद्यविज्ञातमुल्वणं स्याच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहवनीय एवं प्रायश्चित्ताहुतिं जुहुयाद्भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्येष ह वै यज्ञस्य व्यृद्धं समर्धयति। तदैव

[२४] य एताभिरर्व्याहृतिभिः प्रायश्चिति करोति........... विद्यायै संश्लेषण्य:। शा.ब्रा. ६/१२

[२५] अथ यद् ब्रह्मसदनात्तृण निरस्यति शोधयेत्वैनं तदयोपविशतीदमहमर्वावसो: सदसि सीदामीत्यर्वावसुर्ह। शा.ब्रा. ६/१३

[२६] वै देवानां ब्रह्मा तदैव

है। यह यज्ञ का द्वार है अतः यह उसे शून्य (रिक्त) नहीं करता। वह (ब्रह्मा के स्थान पर बैठने वाला) स्विष्टकृत् यज्ञ के कर लेने पर अनुयाजों के आरम्भ तक मौन रहता है। यह यज्ञ का दूसरा द्वार है अतः वह इसे अशून्य नहीं करता है।[२७] जब देवताओं ने यज्ञ किया तो उन्होंने ब्रह्मा का मार्ग सविता के लिए रखा। इससे उनके दोनों हाथ कट गए। इसके स्थान पर उन्हें दो स्वर्णमय हाथों को दिया। इसलिए वे हिरण्यपाणि रूप में प्रस्तुत हुए।[२८] उन्होंने इसे भग के लिए रखा इसने उनकी दोनों आंखों को नष्ट कर दिया इसी से वे कहते हैं की 'भग अंधे' हैं। फिर उसे पूषन् के लिए रखा इसने उनके दांतों को उखाड़ दिया इसलिए कहते हैं कि पूषन् दंतोहन् तथा करम्भभाक् (तरल पदार्थ भोजी) हैं।[२९] फिर उन देवों ने कहा कि- इन्द्र देवताओं में सबसे अधिक ओजस्वी तथा बलवान हैं, इनके लिए इसे रखो। उन्होंने उनके लिए इसे लाया उन्होंने उसका ब्रह्मा से शमन किया। इसलिए उन्होंने कहा कि इन्द्र ब्रह्म हैं।[३०] वे उसे देखते हैं 'मित्र के नेत्रों से तुम्हें देखता हूं निश्चय ही वे इस प्रकार उसे मित्र के नेत्रों से शमित करते हैं'। वे इसे यह कहते हुए स्वीकार करते हैं कि सवितृ देव की प्रेरणा से, अश्विनों की बाहुओं से, पूषन् के हाथों से मैं तुम्हें ग्रहण करता हूं।[३१] निश्चय ही वे इन देवताओं

---

[२७] ब्रहस्पतिर्ह वै देवानां ब्रह्मा......... यज्ञस्य द्वितीयं द्वारं तदेवैतद शून्य। शा.ब्रा. ६/१३

[२८] तद्देवा यज्ञमतन्वत तत्सवित्रे प्राशित्रं परिजह्रुस्तस्य पाणी प्रतिच्छेद तस्मै हिरण्मयौ प्रतिदधुस्तस्माद्धिरण्यपाणिरिति। तदैव

[२९] तस्मादाहुरन्धो भग इति तत्पूष्ण........... करम्भ भाग इति ते देवा उचु:। शा.ब्रा. ६/१३

[३०] इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तस्मा एनत्परिहतेति तत्तस्मै परिजह्रुस्तस्य ब्रह्मणा शमयाञ्चकार तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति। शा.ब्रा. ६/१४

[३१] देवस्य त्वा सवितु: प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीत्येताभिरेवैनं तद्देवतभि: शमयति ६/१४

से उसका शमन करते हैं। तदनन्तर तृणों को व्यूहन् कर पृथ्वी के स्थण्डिल पर ब्रह्मा के अंश वाले पात्र को पूर्व की ओर दण्ड (स्रुवा) कर रखता है। और उसे रखते समय कहता है कि अदिति के उपस्थ में पृथिवी की नाभि में तुझे रखता हूं। पृथ्वी अन्नों की शमनकर्त्री (प्रसाधनकर्त्री) है। इससे वह निश्चित रूप से उसे शमित (प्रसन्न) करता है।[३२] उससे लेकर वह यह कहते हुए खाता है कि 'अग्नि के मुख से मैं तुम्हें खाता हूं'। अग्नि ही अन्नों के शमन कर्ता हैं। इस प्रकार वह उसे प्रसन्न करता है। तदनन्तर वह जल का आचमन करता है कि 'आप शान्तिकारक' हैं। जल शान्ति तथा भेषज है।[३३] इस प्रकार निश्चय ही यज्ञान्त में शान्ति तथा भेषज उत्पन्न किए जाते हैं। वह प्राणवायु का स्पर्श करता है इस प्रकार जो प्राणों में क्रूर कर्म में प्रयुक्त हुआ है या क्षतिग्रस्त है इस प्रकार निश्चय ही उसे वह तृप्त करता है और चिकित्सा करता है। अंत में वह नाभि को यह कहते हुए स्पर्श करता है कि- मैं तुम्हें इन्द्र के जठर में स्थापित करता हूं। इन्द्र उसका इस प्रकार शमन करते हैं और जो सवितृ के सम्बन्धी जप से प्रेरित करता है वह इसलिए कि सविता प्रस्रवित (प्रेरक) है और कर्म प्रेरणा के लिए होता है।[३४] प्रजापति ने यज्ञ की सृष्टि की। उन्होंने अग्न्याधान से रेतस्, देवों, मनुष्य और असुरों की सृष्टि की। दर्श और पौर्णमास हवि से इन्द्र की सृष्टि की।[३५] उनके लिए उन्होंने हविर्यज्ञ

---

[३२] तद्व्युह्य तृणातिप्राग्दण्डं स्थण्डिले....पृथिवी वा अन्नानां शमयित्री। तदैव

[३३] तदथापोऽन्वाचामति शान्तिरसीति शन्तिर्वै भेषजमापः शान्तिरेवैषा भेषजमन्ततो यज्ञे क्रियते। शा.ब्रा. ६/१४

[३४] अथ प्राणान्संमृशन्ति तद्यदेवात्र.................... प्रसविता कर्मण एव प्रसवाय -तदैव

[३५] प्रजापतिर्ह यज्ञं ससृजे सोऽग्न्याधेयेनैव रेतोऽसृजत देवान्मनुष्यानसुरानित्यग्निहोत्रेण दर्शपूर्णमासाभ्याभिन्द्रमसृजत। शा.ब्रा. ६/१५

और सोमयज्ञ में अन्न-पान की सृष्टि की। उन्होंने जिन-जिन कामनाओं की वाञ्छा कि उन्हें इन अयनों से प्राप्त किया। अन्नाद्य को आग्रयण से प्राप्त किया। ये अयन प्रत्येक कामना के प्रति तथा स्वर्गलोक को गमन हैं![३६] चातुर्मास्य यज्ञों से उन्होंने स्वर्गलोकों, सभी कामनाओं, सभी प्राप्तियों और सभी अमृतत्व को प्राप्त किया। प्रजापति ही चातुर्मास्य यज्ञ हैं, चौबीस पर्वों वाला वर्ष। विश्वदेव इसके मुख, दर्शपौर्णमास पर्व ग्रंथि, दिन-रात अस्थि मज्जा, वरुण प्रघास, बाहु, प्राण, अपान, व्यान ये तीन इष्टियाँ, महाहवि आत्मा, जो यह अंतर्देवता हैं वह अन्य इष्टियां और शुनासीरीयर प्रतिष्ठा हैं।[३७] यह प्रजापति ही चतुर्मास्य चतुर्विंश संवत्सर है, प्रजापति ही सब कुछ है, चातुर्मास्य सभी कुछ है। अतः जो इसे जानता है वह सभी कुछ प्राप्त करता है। शाङ्खायन ब्राह्मण में सोमयज्ञ के प्रसंग में प्रजापति का विवेचन करते हुए कहा है- कि प्रजापति सप्तदश है जो प्रजापति के अनुकूल कार्य है वह ऋद्धकारी है।[३८] कौषीतकि ने कहा है -कि प्रजापति प्रातः अनुवाक् है। प्रजापति अपरिमित है उन्हें कोई नहीं माप सकता यही नियम है।[३९] सोमयज्ञ के प्रसंग में अन्य स्थान पर वर्णन है कि षष्ठ दिन पुरुष है। प्रजापति पुरुष है क्योंकि वह इस सब (विश्व) से पूर्व है। प्रजापति सभी छंदों से परे है। यह प्रजापति का रूप प्रतीक है।[४०] **अयम् जायत मनुष्य धरीमणि** ऋक्

---

[३६] तेभ्य एतदन्नपानं ससृज............. कामस्य कामस्य स्वर्गस्य च लोकस्य । तदैव

[३७] प्रजापतिरेव संवत्सरश्चतुर्विंशो यच्चातुर्मास्यानि तस्य मुखमेव............इष्टीः प्रतिष्ठा शुनासीरियम्। शाङ्खायन ब्राह्मण ६/१५

[३८] सप्तदशो वै प्रजापतिरेत आधुकम्। शाङ्खायन ब्राह्मण ८/२

[३९] कौषीतकिः प्रजापतिर्वै प्रातरनुवाकोऽपरिमित उ वै प्रजापतिः कस्तं मातुर्महेदित्येषा हैवस्थितिः। शाङ्खायन ब्राह्मण ११/७

[४०] पुरुष एव षष्ठमहः................प्रजापतिस्तत्प्राजापत्यम्। शाङ्खायन ब्राह्मण २३/४

(१.१२८.१) में किसी देवता के नाम का उल्लेख नहीं है प्रजापति ऐसे हैं जिनका नाम अनिरुक्त (उल्लेखरहित) है। ऋग्वेदीय सूक्तों में कः प्रजापति है। यज्ञ में छठा दिन प्रजापति से सम्बन्धित है।[४१] प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि कर अपने को रिक्त सा अनुभव किया। तब उन्होंने यजन करके अपनी कामनाओं को प्राप्त किया और अन्नाद्य को जीता। इसी प्रकार यजमान भी इस एकादशिनी के दिन यजन कर अपनी कामनाओं को तथा अन्नाद्य को प्राप्त करता है।[४२]

निष्कर्षतः शाङ्खायन ब्राह्मण में ब्रह्म तत्त्व का विवेचन प्रजापति देव रूप में और ब्रह्म ऋत्विक् रूप में उपलब्ध होता है। देव रूप में सृष्टि का सृजन कर्ता, यज्ञ का उत्पन्न कर्ता और सम्पूर्ण विश्व का पालन पोषण कर्ता बताया गया है। ऋत्विक् के रूप में ब्रह्मा को त्रयी विद्या से तेजस् के रस को वर्धित करने वाला, यजन में होने वाले ज्ञात -अज्ञात दोषों का निवारण करने वाला बताया है। इस प्रकार ब्रह्म को अपरिमित अनिरुक्त इत्यादि रूपों में व्यक्त किया गया है।

---

[४१] यदि षष्ठस्याह्नस्तृतीयसवनं तत्तृतीयसवनं प्राजापत्यं वै षष्ठमहः। शाङ्खायन ब्राह्मण २५/११

[४२] प्रजापत्तिः प्रजाः सृष्ट्वारिरिचान............. रुन्धे तस्यै वा। शाङ्खायन ब्राह्मण १२/८

वैदिकवाङ्मये प्रजापतिनामधेयविमर्शः कौषीतकिब्राह्मणस्य परिप्रेक्ष्ये

नीतीश कुमारः[१]

परमकारुणिको भगवान् सर्वादौ विश्वकल्याणाय विशुद्धान्तःकरणसम्पन्नेभ्यः ऋतम्भराप्रज्ञावद्भ्यश्च ऋषिभ्यः वेदज्ञानमददात्। साक्षात्कृतधर्मा ऋषिपरम्परा वेदमन्त्राणां मर्मप्रकाशने सहजतया समर्थावर्त्तत किन्तु कालान्तरे तपस्साधनादिषु न्यूनतावशात् वेदार्थो दुरूहतां गतस्तदा वैदिकाः ऋषयः ब्राह्मण-आरण्यक-वेदाङ्गादिग्रन्थान् विरच्य वैदिकगूढ़रहस्यानि प्रकाशितवन्तः। अस्यां श्रृंखलायामाघं पदस्थानामिव वर्त्तन्ते ब्राह्मणग्रन्थाः। ब्राह्मणशब्दस्य निर्वचनानि बहुधा प्राप्यन्ते। ब्रह्म वै वेदः तदव्याख्यानानि ब्राह्मणानीति अर्थात् वेदस्य व्याख्यानसाधकानि ब्राह्मणानीत्युच्यन्ते।

ब्राह्मणं शब्दसंघाते वेदभागे नपुंसकम्–

यद्यपि निर्वचनममुं वैयाकरणाः नाङ्गीकुर्वन्ति तथाप्ययं भावस्तु ग्राह्य एव। तैत्तिरीयसंहितायाः भाष्यभूमिकायां सायणाचार्योऽपि पूर्वोक्तमेवं भावं

---

[१] **शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली**

स्वीकृत्य स्पष्टं लिखति यत् ब्राह्मणानि मन्त्रव्याख्यानस्वरूपाणि वर्त्तन्ते। ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्राः एवादौ समाम्नाता इति। ब्रह्मविद्भिः महर्षिभिः यागादिविधानप्रोक्तत्वादपीमानि ब्राह्मणानीत्युच्यन्ते। आपस्तम्भसूत्रकारोऽपि ब्राह्मणानि अग्निहोत्रादिकर्मकाण्डप्रतिपादकानीति **कर्मचोदनानि ब्राह्मणानि**।

एवमग्निहोत्रादिभिः सोमयागादिभिश्च यैर्वेदमन्त्रेषु निगूढानामाध्यात्मिक - आधिदैविक - आधिभौतिकभावानां व्याख्याप्रतिपादकाः ब्राह्मणग्रन्थाः इति। विधिना, अर्थवादेन, उभयविधेन च लक्षणेन ब्राह्मणग्रन्थानां त्रैविध्यं प्रतिपाद्यते। अस्माकं समृद्धा ऋषिपरम्परा प्रतिवेदं सम्बद्धानां ब्राह्मणग्रन्थानां ज्ञानराशिमुत्तरोत्तरमुत्तराधिकारत्वेन प्रदत्तवती, किन्तु प्रमादवशात् वैदिकानाञ्चाक्रान्तानां दुराग्रहत्वाद् पाशविकप्रवृत्त्या दोधूयमानत्वाच्चाद्य केचिदेव ब्राह्मणग्रन्थाः समुपलभ्यन्ते। ऋग्वेदसम्बद्धं कौषीतकि(शांखायन)ब्राह्मणमपि सम्प्रति समुपलभ्यते। शांखायनमिति कौषीतकिब्राह्मणस्यापरं नामधेयम्। ऋग्वेदेन सम्बद्धे शांखायनकौषीतकीति पृथक् शाखेऽवर्त्तताम्। एतद्भेदजन्यं पाठान्तरजन्यं वा भवितुमर्हति, किन्तु सम्प्रति एकस्यैव ब्राह्मणग्रन्थस्य नामान्तरमेतत्।

ब्राह्मणग्रन्थेषु विविधदेवतानां सूक्ष्मवर्णनं वर्त्तते। वैदिकवाङ्मयेऽपि कौषीतकिब्राह्मणेऽपि च प्रजापतिदेवतात्मकं चिन्तनमनेकत्र समुपलभ्यते। कौषीतकिब्राह्मणे षष्ठेऽध्याये प्रजापतिदेवतायाः विस्तरेण चर्चा प्राप्यते।

प्रजापतिपदस्य व्युत्पत्त्याधायकोऽर्थः विचार्यते चेत् प्रकर्षेण जाताः जायन्ते वा ताः प्रजाः तासां पतिः प्रजापतिः इति व्युत्पत्त्या प्राणिनां विशेषतो मनुष्याणां पालयितृशक्तिः शक्तिपुञ्जं वा प्रजापति इत्युच्यते। प्राणीनां जीवनयात्रा प्राणानाश्रित्यैव प्रवर्त्तते। यतोहि प्राणाभावे कस्यापि प्राणिनः

वृद्धिः, विकासः, जीवनं वा न सम्भाव्यते। प्राणानां च वाहको वायुर्वर्त्तते। अतः प्राणाः तद्वाहको वायुश्च प्रजापतिः इत्युच्यन्ते।[२]

प्राणीनां शरीरे प्राणानां स्थित्यै गत्यै च तापस्यावश्यकता वर्त्तते। तस्य स्रोतावाग्निसूर्यावपि प्रजानां पालकत्वात् प्रजापतिपदभाजौ भवतः।[३] सर्वेषां प्राणिनां विशेषतो मनुष्याणामाजन्मावाधेः स्वयं सामर्थ्यापर्यन्तं पालनं पितरौ कुरुतः। अतस्तयोरपि प्रजापतित्वमवश्यमेव मन्तव्यम्। प्राणिनां पालनाय अन्नाद्याहारसामग्री अवश्यमेव अपेक्षिता भवति। यत्र घृतं मधु चापि सम्मिलिते वर्त्तेते। अतोहि घृतमधुसहितान्नाद्याहारसमाग्री अपि प्रजापतिपदाभिधेया भवति।[४]

मानवानां मार्गदर्शनाय वाक्तत्वमवश्यमेव जीवनाधायकम्। वाग्विदेव सुप्रयोगमधितिष्ठति। अतोहि वाक्तत्वं वाचस्पतिश्चापि प्रजापतिर्भवत्येव।[५] प्रजापतिपदस्य व्यष्टिरूपा एव इमे प्रयोगाः क्रियन्ते। समष्टिदृष्ट्या तु समाजस्य नियन्तृत्वेन राज्ञः, तस्य शासनव्यवस्थायाः, साम्राज्यस्य चातिशयेन महत्वं वरीवर्त्ति तदभावे साम्राज्येऽसामञ्जस्य प्रजायते। समाजश्च विनाशोन्मुखः प्रवर्त्तते। सर्वमिदमवगम्य राज्ञे तस्य

---

[२] वायुः पवमानः प्रजापतिः। ऐतरेयब्राह्मणम् ४/२६

[३] ब्रह्माऽब्रवीत् प्रजापते! प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरग्निः। शतपथब्राह्मणम् ६/३/२/२३

[४] घृतं च मधु च प्रजापतिः। तैत्तिरीयब्राह्मणम् ३/३/४१, अन्नं प्रजापतिः । शतपथब्राह्मणम् ५/१/३/७

[५] प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् तस्य वाग् द्वितीया आसीत्, तां मिथुनं समभवत् सागर्भमधत्त, सा अकस्मादवक्रामत् स इमाः प्रजाः असृजत् सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् (तस्माद् वाक् प्रजापतिः)। ताण्ड्यब्राह्मणम् २०/१४/२

शासनव्यवस्थायै[६] च प्रजापतिपदप्रयोग: प्रायोऽस्मिन्नैवार्थेऽधिकं समुपलभ्यते।

साम्राज्यस्य सुशासनाय मन्त्रिपरिषद्संसदादीनामपि महत्वं वर्त्तते। अतएव वेदेषु सदसेऽपि प्रजापतिपदप्रयोगो दृश्यते।[७] साम्राज्यस्य स्वस्य च सुरक्षायै प्रभावाय चापि अश्वमेधादीनां यज्ञानामावश्यकता भवति। अतो ह्यश्वमेधयज्ञस्य[८] प्रजापतिपदाभिधेयत्वं सुतरां सिद्ध्यति।

जीवनेऽव्याहतविकासाय सुस्वास्थ्यमनिवार्यम्। तद्धेतोश्च शुद्धस्य समृद्धस्य चापि पर्यावरणस्यावश्यकता भवति। तद्धि न यज्ञमन्तरेण प्रवर्त्तते। अतो विविधयज्ञा: अपि प्रजापतिपदभाजो भवन्ति।

सम्पूर्णस्यापि संसारस्योत्पत्तिस्थितिगतीनामाधारभूत आत्मा वर्त्तते। य: खलु योगादिभिर्दर्शनशास्त्रै: पुरुष इति नाम्ना स्मर्यते। अत एवायमात्मा एव परमात्मेति वर्ण्यते। अतो ह्यात्मपरमात्मनोरपि प्रजापतीति नामधेयम्।[९] एतदतिरीच्यापि वेदेषु यथावसरं सोम-पुरुष-मनु-मनुष्य-सम्वत्सरादीनामपि प्रजापतीति नामधेयमुच्यते।[१०] समुपस्थापितानां तथ्यानां सन्दर्भे वैदिकवाङ्मयस्य महनीयग्रन्थेषु प्रजायते समुपस्थापितन् अर्थान् प्रति संकेत: प्राप्यते। एतत्खलु दृष्टमेव।

---

[६] एष वै प्रजापते: प्रत्यक्षतमा तनू: यद् राजन्य: तस्मादेक: सन् बहूनामीष्टे। शत.ब्रा. ५/१/५/४, स्वराज्यं प्रजापति:। ताण्ड्यब्राह्मणम् १९/१३/३

[७] प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सद: । ताण्ड्यब्राह्मणम् ६/४/११

[८] अश्वमेध: । शत.ब्रा. १३/२/२/१३

[९] आत्मा वै प्रजापति:। शत.ब्रा. ४/५/९/२

[१०] सत्पुरुषो ह्ययं पुरुष: तान्वै सप्तपुरुषा: एकं पुरुषमकुर्वन् स: प्रजापतिरभवत्। श.ब्रा. १०/२/२/१

एवं वयं पश्यामो यत् वैदिकसंहितासु यथास्थानं प्रयुक्तस्य प्रजापतिपदस्य तात्पर्यार्थः ऐतरेयः-गोपथ-शतपथ-ताण्ड्यादिब्राह्मणग्रन्थेषु प्राणवायुः, अग्निः, वाक्, मधुधृते, अन्नम्, राजा, साम्राज्यम्, अश्वमेधः, सदस्, आत्मा, परमात्मेत्यादिषु वर्त्तते।

कौषीतकिब्राह्मणस्य प्रधानं विषयवस्तु यज्ञीयकर्मकाण्डानां व्याख्यानमेव वर्त्तते परन्तु षष्ठेऽध्याये सृष्ट्युत्पत्तिविषयिनी चर्चा प्रवर्त्तते। अत्र विविधनाम्नां परिचयः प्राप्यते, प्रजाकामनया प्रजापतिः तपोऽतपत् प्रतप्ते सति पञ्चत्वानि समुत्पन्नानि अग्निः, वायुः, आदित्यः, चन्द्रमा, उषा।[११] प्रजापतिः तानपि तप्तुमादिदेश। तै प्रतप्ते सति प्रजापते सन्ततिः उषा अप्सरारूपं प्रकटितवती। [उद्धरणम्- १. प्रजापतिः प्रजातिकाम तपोऽतप्यत तस्मात् तप्तात् पञ्च अजायन्त अग्निः वायुः आदित्यः चन्द्रमा उषा पञ्चमी।] तस्यामग्न्यादिभिरेतैः एतस्सञ्चयनमकारि ते पितरं प्रजापतिमुपगम्य प्रोचु वयमुषसिरेतस्सञ्चयनं कृतवन्तः। एतदनन्तरं सर्वेषामपि अङ्गानां निर्माणं प्रक्रियया भवति। यस्याः प्रक्रियायाः वर्णनमेकेनाख्यानेनात्र वर्ण्यते। सः सहस्राक्षः सहस्रपात् (हिरण्यगर्भः प्रजापतिः) पितरमुपगम्य अब्रवीत् मह्यं नाम प्रदीयताम् अनामाहमिमं विहितमन्नं न खादितुं शक्नोमि। प्रजापतिरवदत् त्वं भवः,[१२] यश्च भवः तदेव जलं भवति। सः द्विवारं पुनः प्रजापतिमुपसृत्योवाच मह्यं नाम प्रदीयताम् अहमेकेनैव नामधेयेनेममन्नं न खादितुं शक्नोमि।

प्रजापतिरब्रवीत् शर्वस्त्वम् यतोहि अग्निरपि शर्वो वर्त्तते।[१३] अतस्तस्य प्रजापतेरग्निनामधेयम्। स पुनः तृतीयवारं प्रजापतिमुपसृत्योवाच

---

११ प्रजापतिः प्रजातिकामः तपोऽतप्यत। कौ.ब्रा. ६/१

१२ स वै त्वमित्यब्रवीत् भव एवेति यद्भवः आपः। कौ.ब्रा. ६

१३ स वै त्वमित्यब्रवीत्, शर्व एवेति यत् शर्वोऽग्निः। कौ.ब्रा.६

अन्यं नामकरणं मे ददातु। प्रजापतिरुवाच त्वं पशुपतिरसि।[१४] यतोहि वायु: प्रजापति: वर्त्तते। इति तृतीयं नामधेयम्।

स पुनरपि प्रजापतिमुपसृत्योवाच पुनर्नामकरणं मे क्रियताम्। प्रजापतिरुवाच- उग्रो देवस्त्वम्,[१५] उग्रदेवा एवौषधयो वनस्पतयश्च वर्त्तन्ते, यतोहि औषधीनां वनस्पतीनामुत्पत्यै पार्थिवं तत्त्वमावश्यकं भवति। अत एव देवेति नामधेयम्। पञ्चमवारं स पुनरपि प्रजापतिमुपसृत्य नामकरणाय प्रार्थितवान्। प्रजापतिश्च पञ्चधा प्रख्याप्योवाच महादेवस्त्वम्, यतोहि महादेवोऽयमादित्य:। अत्रादित्य इति नामधेयम्।[१६] स पुनरपि प्रजापतिमुपसृत्य षष्ठं नामकरणं याचितवान्। षष्ठे नामकरणे प्रजापतिरुवाच रुद्रस्त्वम्, यतोहि रुद्र एव चन्द्रमा।[१७] अत्र रुद्र इति नामधेयम्।

स पुनरपि प्रजापतिमुपसृत्य नामकरणाय प्रार्थितवान्। प्रजापतिरुवाच ईशानस्त्वम्, यतोहि ईशान एव अन्नमिति। अतोहि ईशान इति नामधेयम्।[१८] अन्नादीन्येव ब्रह्माण्डीयोर्जास्रोतांसि। येनोर्जाया: सततं प्रवाहो भवति।

अष्टमं वारं स पुन: प्रजापतिमुपसृत्य नामधेयं प्रार्थितवान्। प्रजापतिरुवाच अशनिस्त्वम्, यतोहि अशनिदेव इन्द्र: इन्द्र एव आत्मा

---

[१४] स वै त्वमित्यब्रवीत्, पशुपतिरेवेति यत्पशुपतिर्वाय:। कौ.ब्रा.६

[१५] स वै त्वमित्यब्रवीत्, उग्र एव देव इति यद् उग्रो देव ओषधयो वनस्पतय:। कौ.ब्रा. ६

[१६] स वै त्वमित्यब्रवीत्, महानेव देव इति यन्महान् देव आदित्या:। कौ.ब्रा. ६

[१७] स वै त्वमित्यब्रवीत्। रुद्र एवेति यद् रुद्र: चन्द्रमा। कौ.ब्रा. ६

[१८] स वै त्वमित्यब्रवीत्। ईशान एवेति यद् ईशान: अन्नम्। कौ.ब्रा. ६

अर्थात् चैतन्यशक्तिर्वर्त्तते। अत एव अशनिरिति नामधेयम्।[१९] एवं वयं पश्यामो यदस्मिन्नाख्याने प्रजापतेर्विविधरूपाणां परिचर्चा प्राप्यते।

कौषीतकिब्राह्मणस्याष्टमेऽध्याये सोमयज्ञप्रसंगे प्रजापतेर्विवेचनं प्राप्यते। तत्रोच्यते- **सप्तदशो वै प्रजापतिरेत आधुकम्,**[२०] यच्च खलु प्रजापतेरनुकूलं कर्म तद्धि ऋद्धकरीत्युच्यते। प्रजापतिः प्रातरनुवाको वर्त्तते। अपरिमितोऽयं प्रजापतिः।[२१] पुरुषोऽयं प्रजापतिः यतोह्ययं पूर्वेषामपि पूर्वो वर्त्तते। सर्वछन्दोकिरतीतोयं प्रजापतिः। प्रजापतिरेव चतुर्विंशतिपर्वात्मकः चातुर्मास्ययज्ञस्वरूपो वर्त्तते।[२२] प्रतीकरूपमेव प्रजापतिः स्वरूपमिति। ऋग्वेदीयसूक्तेषु कः इति नामधेयोऽयं प्रजापतिः। यज्ञे षष्ठो दिवसः प्रजापतेरेव वर्त्तते।[२३] एवं प्रकारेणावलोक्यते यत् वैदिकवाङ्मये बहुभिर्नामधेयैस्स्तुतोऽयं प्रजापतिः, कौषीतकिब्राह्मणेऽपि भव-शर्व-वायु-देव-महादेव-रूद्र-ईशान-अशनीत्यादिभिर्नामधेयैस्स्तुतो वर्त्तते। वस्तुतस्त्वेक एव प्रजापतिः सृष्टेः सृजनकर्तृत्वात् यज्ञादीनामुत्पादयितृत्वात् विश्वस्य च पालयितृत्वात् बहुधा स्तूयते। '

---

[१९] स वै त्वमित्यब्रवीत्। अशनिः एवेति यद् अशनिः इन्द्रः। कौ.ब्रा. ६

[२०] प्रजापतिरेव सम्वत्सरश्चतुर्विंशो यच्चातुर्मास्यानि तस्य मुखमेव। कौ.ब्रा. ६/१५

[२१] कौ.ब्रा. ८/२

[२२] कौषीतकिः प्रजापतिर्वै प्रातरनुवाकोऽपरिमित उ वै प्रजापतिः कस्तै मातुर्महदित्येषा हैवास्थितिः। कौ.ब्रा. ११/७

[२३] पुरुषः एव षष्ठमहः...प्रजापतिस्तत्प्राजापत्यम्। कौ.ब्रा. २३/४

कौषीतकि ब्राह्मण में वर्णित वाक्-तत्त्व

तेज प्रकाश[1]

ब्राह्मण वेदों के प्रथम व्याख्यान ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण शब्द में स्थित ब्रह्मन् शब्द मन्त्र, यज्ञ, रहस्य और परमसत्ता आदि अनेक अर्थ वाला है। ब्राह्मण में मन्त्रों का व्याख्यान और उनका विनियोग, यज्ञों का विवरण, यज्ञकर्मों का भौतिक रूप के साथ आध्यात्मिक और वैज्ञानिक रहस्य का विवरण प्राप्त होता है।[2] शाबरभाष्य में ब्राह्मण की हेतु.. परक्रिया और पुराकल्प आदि विषय-वस्तु वर्णित की गयी है।[3]

ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि दो ब्राह्मण हैं। कौषीतकि ब्राह्मण का अपर नाम शाङ्खायन ब्राह्मण भी है, जो ऐतरेय के परवर्ती ब्राह्मण के रूप में स्वीकार्य है। ३० अध्यायों, २२६ खण्डों से युक्त इस ब्राह्मण में प्रथम ६ अध्याय पाकयज्ञ (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, ऋतुयज्ञ आदि) और शेष अध्याय सोमयाग से सम्बन्धित हैं।

---

[1] **शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय**

[2] ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः (भट्टभास्कर- तैत्तिरीय संहिता १/५/१)

[3] हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥ (मीमांसासूत्रभाष्य २/१/३३)

कौषीतकि याग प्रधान ब्राह्मण है। सभी यागों में मन्त्रों की आवश्यकता होती है। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं तथा उनके प्रयोग के लिये किसी साधन की भी आवश्यकता होती है, वह है वाग्।

मानव शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं। इनसे पृथक् चार आन्तरिक इन्द्रियां हैं। वाक् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के समस्त व्यापार को प्रकट करने वाली है। वाणी के बिना सकल जगत् के क्रिया-कलाप मानो निष्क्रिय हैं, यथा- दृष्टादृष्ट, श्रुत-अश्रुत आदि अनेक विध-व्यवहारों की साधिका वाक् ही है। क्योंकि वाक् के बिना मानव स्वसंवेदन और परसंवेदन नहीं कर सकता है। यहां तक कि मानव मननात्मक कृत्य भी वाक् के रूप में ही किया करता है।

वच परिभाषणे धातु से **क्विप् प्रत्यय** होने पर **वाक्** शब्द की निष्पत्ति होती है।[४] जिसका अर्थ **उच्यते असौ अनया वेति वाक्** है। इस धातु के अर्थ पर चिन्तन करने पर वच् धातु का अर्थ परिभाषण और परिभाषण का अर्थ **आङ्-पूर्वक भाष व्यक्तायां वाचि** से **ल्युट् प्रत्यय** होकर **आ समन्तात् भाषते व्यक्तं स्पष्टं समस्तं जगत्पदार्थं वदतीत्यर्थः** है। जिसका तात्पर्य हुआ कि जो तत्त्व भेदमय रूपेण प्रकाशमान समस्त विश्व को व्यक्त करे, वह वाक् तत्त्व कहलाता है। इन व्युत्पत्तियों के माध्यम से वाक् का एक बृहत् रूप दृष्टिगोचर होता है।

ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में वाक् का ब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है। इसके अनुसार वाक् सर्वत्र व्याप्त है। वाक् के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है, का प्रतिपादन किया गया है-

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥[५]

---

[४] क्विप् वचिप्रच्छि. उणादि कोश २/५७

[५] ऋग्वेद संहिता

संसार का एक परम कारण है, जिसे समस्त विश्व और समस्त वैज्ञानिक समुदाय किसी न किसी रूप में स्वीकार किया करता है। इस परम कारण को ही भारतीय ज्ञान परम्परा परम सत्ता के रूप में ब्रह्मरूप को कहती है और उसका बोध कराती है। इस परम सत्ता से प्रत्येक वस्तु की परिणति होती है। छान्दोग्योपनिषद् में सर्वं खल्विदं ब्रह्म[६] कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयत्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति[७] कहा गया है। यहां क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को ब्रह्म, स्थूल से सूक्ष्म की ओर ब्रह्मज्ञान का स्वरूप वर्णित है- आनन्द ही वास्तविक ब्रह्म है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्द का व्याख्यान किया गया है- आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्। यह आनन्द लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। अलौकिक आध्यात्मिक ब्रह्म-मात्र तथा लौकिक भौतिक मायावृत इस जगत् में मनुष्य द्वारा प्राप्त आनन्द है। कौषीतकि में आनन्द की सृष्टि के तीन मत प्राप्त होते हैं-

१. तमो गुण से मिथुनों में आनन्द की सृष्टि

कौषीतकि ब्राह्मण में "**यैवेके चाऽऽनन्दा अन्ने पाने मिथुने रात्र्या एव ते संतता अव्यवच्छिन्नाः क्रियन्ते तेषां रात्रिः कारोतरो**[८] है। अर्थात् आनन्द की उत्पत्ति , जो युगल रूप में स्थित है, वह सदैव रात्रि से ही सम्भव है। वह सतत और अव्यवच्छिन्न धारया प्रवाहमान है। यहां रात्रि और मिथुन में रात्रि तमोगुण का प्रतीक है। इससे ज्ञात होता है कि यह जगत् तमोगुण प्रधानता से युक्त है। मिथुन का तात्पर्य दो के संयोग से है। अर्थात्

---

[६] छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१

[७] तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१

[८] कौषीतकि ब्राह्मण ७/२

जब दो पदार्थों का संयोग तमोगुण प्रधान काल में होता है, तब यह जगत् हमारे सम्मुख आता है। और पुरुष इस भौतिक संसार में आनन्द का अनुभव करने लगता है।

ऋग्वेद में नासदीय सूक्त में इसका पूर्णतया वर्णन किया गया है। जिसके अनुसार सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत्। न अन्तरिक्ष और न स्वर्ग, न मृत्यु और न अमरता, न रात और न दिन जैसे युग्मों का उस समय चिह्न भी नहीं था। उस समय वायु के बिना एक ही तत्त्व श्वांस लेने वाला तत्त्व था (आनीदवातं स्वधया तदेकम्...), कहीं कुछ था ही नहीं। अन्धकार से आच्छादित अन्धकार में ही समस्त जगत् अथाह जल से भरा था।[९] और उस मूल तत्त्व से सृष्टि-सञ्चालनार्थ काम उत्पन्न हुआ। यह काम ही चेतना का प्रथम बीज था।[१०]

२. अन्न से आनन्द की सृष्टि

शांखायन ब्राह्मण में अन्न से आनन्द की सृष्टि का मत है- **"य उ वैके चाऽऽनन्दा अन्नादेव ते सर्वे जायन्ते।**[११] अर्थात् सभी आनन्द अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न से पृथिवी पर आश्रित प्रजा की उत्पत्ति कही गयी है।[१२] और अन्न को ब्रह्म (अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते... येऽन्नं ब्रह्मोपासते)[१३] कहने के कारण अन्नं न निन्द्यात्, तद्व्रतम् कहा गया है।

---

[९] तम आसीत्तमसा गूळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्॥ ऋग्वेद संहिता १०/१२२/३

[१०] मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥ ऋग्वेद संहिता १०/१२२/४

[११] कौषीतकि ब्राह्मण ७/२

[१२] अन्नाद्वै प्रजाः जायन्ते तैत्तिरीयोपनिषद् २/२

[१३] तैत्तिरीयोपनिषद् २/२

३. देवाभिमत आनन्द की सृष्टि

देवों के मत में आनन्द की उत्पत्ति इस प्रकार है- **"ते देवा अब्रुवन् कथन्विमान्वयमानन्द्रा तस्माद्दशस्यैव प्रतिगृह्णीयामेति तेऽपामूर्ध्वं रसमुदौहंस्ता ओषधयश्च वनस्पतयश्च समभवन्नोषधीनाण् च वनस्पतीनां चोर्ध्वं रसमुदौहंस्तत्फलमभवत्फलस्योर्ध्वं रसमुदौहंस्तदन्नमभवदन्नस्योर्ध्वं रसमुदौहंस्तद्रेतोऽभवद्रेतस ऊर्ध्वं रसमुदौहं स पुरुषोऽभवत्"**[१४]**|** अर्थात् जल के रस को ऊपर फेंकने से ओषधि और वनस्पति हो गये। इनके रस को ऊपर फेंकने से फल, फल के रस को ऊपर फेंकने से अन्न, अन्न के रस को ऊपर फेंकने से रेतस् और रेतस् (बीज) के रस को ऊपर फेंकने से पुरुष हो गया।

तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म से सृष्टि का क्रम कुछ इसी प्रकार से है- **"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः , आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषोऽन्नरसमयः"।**[१५] किन्तु यहां पर आनन्द की उत्पत्ति न कहकर अन्नरसमय पुरुष और इस समस्त जगत् की उत्पत्ति कही गयी है।

इस प्रकार से आनन्द-रूप इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति बताई गयी है। कौषीतकि के अनुसार इस संसार में स्थित सभी कुछ वाङ्मय है। पुरुष प्राण और अपान श्वांस ग्रहण करता और बाहर निकालता है। वे दोनों अपने स्वरूप को कहने में सर्वथा असमर्थ हैं।[१६] और वे दोनों मात्र वाक् के

---

[१४] कौषीतकि ब्राह्मण ७/२

[१५] तैत्तिरीयोपनिषद् २/१

[१६] अयं पुरुषो यः प्राणिति वाऽपानिति वा न तत्प्राणेन नापानेनाऽहेति प्राणिषं वाऽपानिषं वेति वाचैव तदाह। कौषीतकि ब्राह्मण ७/२

द्वारा कहे जाते हैं। इसी कारण से पुरुष के प्राण और अपान वाङ्मय कहलाते हैं।[१७]

ऋग्वेद में प्रथम मण्डल के तृतीय सूक्त के नवम मन्त्र में विद्याप्राप्ति के लिये कहा गया है। उससे अगले तीन मन्त्र सरस्वती देवता के हैं-

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः॥[१८]

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥[१९]

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥[२०]

ऋषि दयानन्द ने इन मन्त्रों में प्रयुक्त सरस्वती शब्द का अर्थ सभी प्रकार की उत्तम विद्याओं को देने वाली वाणी, किया है। इसीसे शिल्पविद्या और कर्मरूप यज्ञ आदि प्रकाशित होते हैं। अन्तिम मन्त्र में अर्णः शब्द का तात्पर्य शब्दरूपी समुद्र से है, जिसको वाणी जनाने वाली है।[२१] और यह हमें तव तक नहीं समझ में आता है जब तक कौषीतकि ब्राह्मण के "अथ यत्सरस्वतीं यजति वाग्वै सरस्वती वाचमेवं तत्प्रीणाति"[२२]। इसका अर्थ है- वाग् ही सरस्वती है। और जो सरस्वती का यजन करता है वह वाक् को ही प्रसन्न करने में संरत होता है।

किन्तु सायणादि आचार्यों तथा विल्सन ने सरस्वती शब्द के देहधारिणी देवता और नदी दो अर्थ किये हैं। जो दयानन्द और ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार सर्वथा अनभिप्रेत हैं।

---

[१७] तत्प्राणापानौ वाङ्मयौ भवतः। कौषीतकि ब्राह्मण ७/२

[१८] ऋग्वेद संहिता १/३/१०

[१९] ऋग्वेद संहिता १/३/११

[२०] ऋग्वेद संहिता १/३/१२

[२१] ऋग्वेद भाष्य (दयानन्द) १/३/१०,११,१२

[२२] कौषीतकि ब्राह्मण ५/२

वाक् के दीक्षित किये जाने से यह दीक्षा है।[२३] इसी से दिशाओं का ज्ञान होता है।[२४] वाग्वा इन्द्रः, जिसके बिना कोई भी शुद्ध नहीं है।[२५] सोमयाग में उदयनीयवाक्, अच्छावाक् अनुष्टुप् वाक्[२६], शंयोर्वाक्-दर्शपौर्णमास में प्रयुज्यमान (उच्च स्वर/सूक्तवाक्) का वर्णन प्राप्त होता है।[२७] इसमें व्यतिषिक्त (संसक्त), निरुक्त (उच्च स्वर), अनिरुक्त, उपांशु (मन्द स्वर) सभी कामनाओं की प्राप्ति के लिये, उच्चारण का प्रावधान किया गया है। प्रजा की कामना के लिये उपर्युक्त सृष्टि के मूल तत्व को वाक् के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[२८] इस प्रकार कौषीतकि ब्राह्मण में वाक् एक साधन तथा ब्रह्म के रूप में विवेचन प्राप्त होता है। वेद से आगत और ब्राह्मण गन्थों में व्याख्यात वाक् तत्त्व आगामी काल में भर्तृहरि पर्यन्त मानवद्दष्ट्या विकसित हुआ और अधिक स्पष्ट हुआ।

---

[२३] वाग् दीक्षा, वाचो हि दीक्षते कौषीतकि ब्राह्मण ७/१

[२४] कौषीतकि ब्राह्मण ७/६

[२५] न ह्यते वाचः पवते धाम किञ्चन्

[२६] वागनुष्ट्प्, मुखे तद्वाचं दधाति। मुखेन वै वाचं वदति। कौ. ब्रा. ११/२, १५/३, १६/४

[२७] कौषीतकि ब्राह्मण ७/९

[२८] सा वाग् विष्णुर्योनिं..... अस्या आयतने प्रजाकामस्याभिष्टुयाद्। कौषीतकि ब्राह्मण ८/५



गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ